परिप्रेक्ष्य

शैक्षिक योजना और प्रशासन का सामाजिक–आर्थिक संदर्भ

वर्ष 25 अंक 2 अगस्त 2018

प्रमुख आलेख

मनोरंजन मोहंती
भारत में स्नातक शिक्षा का संकट

सुधांशु भूषण
विकास एवं प्रगति के प्रतिमान :
विहार के विशेष संदर्भ में

तपन आर. मोहंती
निजी ट्यूशन के सामाजिक–मनोवैज्ञानिक संदर्भ :
भारतीय अनुभव

बीरेंद्र सिंह रावत
भाषा–शिक्षण में आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र की उपयोगिता

राष्ट्रीय शैक्षिक योजना एवं प्रशासन संस्थान
NATIONAL INSTITUTE OF EDUCATIONAL PLANNING AND ADMINISTRATION

परिप्रेक्ष्य

शैक्षिक योजना और प्रशासन का सामाजिक-आर्थिक संदर्भ

संरक्षक

एन.वी. वर्गीज

कुलपति, नीपा

संपादकीय सलाहकार मंडल

साधना सक्सेना

श्रुति तांबे

अपूर्वानंद

सतीश देशपांडे

संपादक मंडल

सुनीता चुग

मनीषा प्रियम

सविता कौशल

अकादमिक संपादक

सुधांशु भूषण

संपादक

सुभाष शर्मा

संपादन सहयोग

मनोज गौड़

उप प्रकाशन अधिकारी

प्रमोद रावत

प्रकाशन सहायक

अमित सिंघल

परिप्रेक्ष्य राष्ट्रीय शैक्षिक योजना एवं प्रशासन संस्थान (नीपा) की चतुर्मासी हिंदी पत्रिका है। यह वर्ष के अप्रैल, अगस्त और दिसंबर माह में प्रकाशित की जाती है। संपादकीय विवरण के लिए कृपया आवरण (iii) देखें।

परिप्रेक्ष्य में प्रकाशित लेखों और अन्य सामग्री में व्यक्त विचार लेखकों के निजी विचार हैं। नीपा की नीतियों और विचारों से उनका कोई संबंध नहीं है।

परिप्रेक्ष्य

शैक्षिक योजना और प्रशासन का सामाजिक-आर्थिक संदर्भ

वर्ष 25, अंक 2, अगस्त 2018

राष्ट्रीय शैक्षिक योजना एवं प्रशासन संस्थान
17-बी, श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली-110 016

500 प्रतियां

© राष्ट्रीय शैक्षिक योजना एवं प्रशासन संस्थान, 2018
(भारत सरकार द्वारा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अधिनियम 1956 की धारा 3 के अंतर्गत घोषित)

इस पत्रिका का प्रकाशन प्रति वर्ष अप्रैल, अगस्त और दिसंबर माह में किया जाता है। इसकी प्रतियां चुनिंदा और इच्छुक व्यक्तियों तथा संस्थानों को नि:शुल्क भेजी जाती हैं। यह नीपा की वेबसाइट: www.nuepa.org पर नि:शुल्क उपलब्ध है। इसे प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्ति और संस्थान निम्निलिखित पते पर आवेदन करें :

अकादमिक संपादक

परिप्रेक्ष्य

राष्ट्रीय शैक्षिक योजना एवं प्रशासन संस्थान (नीपा)
17-बी, श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली-110 016

राष्ट्रीय शैक्षिक योजना एवं प्रशासन संस्थान (नीपा) के लिए कुलसचिव, नीपा द्वारा प्रकाशित तथा बचन सिंह, बी-275, अवन्तिका, सेक्टर-1, रोहिणी, नई दिल्ली द्वारा लेजर टाइपसेट होकर मै. पावर प्रिन्टर्स, नई दिल्ली में नीपा के प्रकाशन विभाग द्वारा मुद्रित।

परिप्रेक्ष्य
वर्ष 25, अंक 2, अगस्त 2018

विषय सूची

आलेख

मनोरंजन मोहंती
भारत में स्नातक शिक्षा का संकट 1

सुधांशु भूषण
विकास एवं प्रगति के प्रतिमान : बिहार के विशेष संदर्भ में 23

तपन आर. मोहंती
निजी ट्यूशन के सामाजिक-मनोवैज्ञानिक संदर्भ : भारतीय अनुभव 35

बीरेंद्र सिंह रावत
भाषा-शिक्षण में आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र की उपयोगिता 53

शोध टिप्पणी / संवाद

गुंजन शर्मा
पास-फेल पर राजनीति : शिक्षा का अधिकार में दूसरा संशोधन 69

ऋषभ कुमार मिश्र
नव उदारवादी एजेंडा और प्राइवेट स्कूल के शिक्षक 79

रंजय कुमार पटेल एवं **शिरीष पाल सिंह**
संस्कृत उपलब्धि परीक्षण का निर्माण तथा मानकीकरण 89

परिप्रेक्ष्य
वर्ष 25, अंक 2, अगस्त 2018

भारत में स्नातक शिक्षा का संकट*

मनोरंजन मोहंती**

नीपा स्थापना दिवस पर व्याख्यान हेतु आमंत्रित करने के लिए हार्दिक धन्यवाद। सामान्य रूप से, महत्वपूर्ण प्रश्नों को उठाने और इस विषय पर लोगों का ध्यान आकर्षित कराने का यह एक महत्वपूर्ण अवसर है। मैंने विचार-विमर्श के लिए भारत में स्नातक शिक्षा के संकट विषय पर चर्चा करने का निर्णय लिया है, क्योंकि मेरा विश्वास है कि यह भारतीय शिक्षा प्रणाली के सबसे ज्यादा उपेक्षित क्षेत्रों में से एक है।

हम सभी बहुत खुश हैं कि विगत दशक में एक लक्षित विचार-विमर्श और कुछ प्रतिबद्ध प्रयासों के परिणामस्वरूप प्रारंभिक शिक्षा के सार्वभौमिकरण से कुछ परिणाम प्राप्त हुए हैं। समग्र निष्पादन अभी संतोषजनक स्थिति में नहीं है, यद्यपि अनेक सक्रिय समूह, शिक्षा का अधिकार अधिनियम, 2009 के पूर्ण क्रियान्वयन को सुनिश्चित करने और इस कानून में मौजूद कमियों को भरने के लिए प्रयासरत हैं। किंतु कुछ समूहों और उससे भी कम नीति-निर्माताओं ने स्नातक शिक्षा के संकट के परिमाण को स्वीकार करने का प्रयास किया है। केवल नीति दस्तावेजों में नाममात्र के संदर्भ को छोड़कर उच्च शिक्षा संबंधी चिंतन तथा नीति, परास्नातक स्तर अर्थात मास्टर्स और डॉक्टोरल स्तर तथा उच्च अनुसंधान पर ही मुख्य रूप से ध्यान जाता है। सरकारी पहलों के विवादास्पद पहलुओं पर जाए बगैर उत्कृष्ट संस्थानों पर मौजूदा विचार-विमर्श भारतीय नीति-निर्माताओं की प्राथमिकता का एक उदाहरण है। सरकार के मानव संसाधन विकास मंत्रालय को अनुदानों को अंतरित करने के लिए एवं मानक बनाए रखने और उनकी निगरानी करने हेतु प्रस्तावित कानून में निर्धारित अधिकार प्रदान करने के लिए भारत में उच्चतर शिक्षा के प्रबंधन का संरचनात्मक पुनर्गठन किया जा रहा है। इसके तहत विश्वविद्यालय

---

* प्रस्तुत आलेख नीपा स्थापना दिवस व्याख्यानमाला के अंतर्गत दिनांक 11 अगस्त 2018 को प्रस्तुत व्याख्यान का हिन्दी अनुवाद है।

**समाज विकास परिषद, नई दिल्ली

अनुदान आयोग के स्थान पर भारतीय उच्च शिक्षा आयोग स्थापित करने का प्रस्ताव रखा गया है। यह बदलाव भी स्नातक शिक्षा के मज़बूतीकरण पर कम ध्यान देती है।

शिक्षा तथा लोक नीति-निर्माता समुदाय से एक अपील है कि वे इस संकट की ओर ध्यान दें और इसके परिमाण और कारणों का विश्लेषण करें तथा इसे तथ्यपरक बनाने और अधिसंख्यक युवाओं के सार्थक तथा उपयोगी जीवन निर्माण के लिए तरीके सुझाएं क्योंकि बहुत बड़ी संख्या में युवा इस संकट के शिकार हैं।

मजबूत नींव शाश्वत होती है और अच्छे परिणाम प्रदान करती है। जैसे सर्वव्यापी और अच्छी गुणवत्ता वाली प्रारंभिक शिक्षा के बगैर किसी समाज में प्रतिभा के विकास का आधार संकुचित बना रहता है, इसी प्रकार बगैर अच्छी गुणवत्ता वाली स्नातक शिक्षा के बिना उच्च शिक्षा और उन्नत अनुसंधान के लिए प्रतिभा का आधार संकुचित बना रहता है। उत्कृष्टता का द्वीप सृजित करने का किसी भी तरह का प्रयास विश्व स्तरीय अनुसंधान के लिए पर्याप्त होगा। दूसरी ओर, प्रारंभिक और स्नातक स्तरीय महाविद्यालय स्तर की अच्छी गुणवत्ता वाली शिक्षा एक व्यापक प्रतिभा सम्पन्न समुदाय का विकास करेगी जिससे उच्च गुणवत्तायुक्त, नवाचार और सर्जक मस्तिष्कों की श्रृंखला तैयार होगी जो भावी विकास के लिए उत्प्रेरक सिद्ध होंगे। तब वे उत्कृष्टता के कतिपय पैमाने में उलझने के बजाए उसे विश्व स्तरीय बनने में योगदान करेंगे।

यह संकट त्रिस्तरीय है: सीखने के परिणाम अत्यन्त चिंताजनक हैं जबकि छात्रों और अध्यापकों पर भार लगातार बढ़ रहा है; अवसंरचना संबंधी सुविधाएं समग्र रूप से अपर्याप्त हैं जबकि महाविद्यालयों की संख्या और नामांकन का पैमाना लगातार बढ़ रहा है; यह क्षेत्र भी समाज में असमानता को बढ़ावा देने वाला है यद्यपि कमजोर वर्गों के लिए आरक्षण की व्यवस्था है। अंतिम स्थिति पहले दो का परिणाम है। मौजूदा समय में स्नातक शिक्षा वांछित ज्ञान और अवसंरचना के मामले में अभाव ग्रस्त है, यह सामाजिक समूहों, क्षेत्रों, वर्गों, जातियों, लिंग, धार्मिक समूहों, नस्लीय समूहों के मध्य ज्यादा से ज्यादा असमानता पैदा कर रही है। किसानों, दलितों, आदिवासियों, अल्पसंख्यकों के बच्चे और विशेष रूप से लड़कियां इस परिस्थिति के मुख्यत: शिकार हैं। इसमें कोई संदेह नहीं है कि सीटों के आरक्षण, कुछ महाविद्यालयों तथा क्षेत्रों को विशेष अनुदान के माध्यम से गत दशकों में, इसे काबू करने के लिए कुछ प्रयास किए गए हैं। लेकिन स्नातक शिक्षा की ढांचागत विशेषताएं – मुख्य रूप से केन्द्रीकृत प्रबंधन तथा शिक्षकों की नियुक्ति तथा पाठ्यक्रम नियंत्रण के मानदण्ड जो कि स्थानीय आवश्यकताओं के

लिए कम संवेदनशील हैं– वे हाशिए पर खड़े समाज के वर्गों के लिए गंभीर रूप से विरोधी हैं।

शीर्षक– 'भारत की स्नातक शिक्षा का संकट' के बारे में स्पष्टीकरण आवश्यक है। यह उनकी स्थिति पर ध्यान आकृष्ट करने के लिए है, निश्चित रूप से उनके प्रति दया दर्शाने के लिए नहीं। 18 से 21 अथवा 22 वर्ष आयु वर्ग के युवाओं का भारी समूह आज विद्रोह की स्थिति में है और आगे आने वाले दिनों में यह और भी विद्रोही बनेगा। ये पहली बार मतदान का अधिकार पाने वाले नागरिक हैं। वे अपने लोकतांत्रिक अधिकारों के प्रति ज्यादा सतर्क हैं और एक दिन संपूर्ण और सृजनात्मक नागरिक के रूप में बढ़ने के लिए समतापूर्ण और गुणवत्तायुक्त शिक्षा की मांग करेंगे। लिंगदोह समिति के विनियमों के बावजूद छात्र संघ चुनाव निरंतर हिंसात्मक और खर्चीले होते जा रहे हैं। प्रत्येक क्षेत्र में राजनैतिक दलों द्वारा भारी संख्या में उनका उपयोग करते हुए राजनैतिक रूप से प्रेरित किया जाना, इस नई स्थिति का संकेतक है। धार्मिक कट्टरवादी शक्तियां अपने अभियानों में उन्हें एक परिवर्तनशील औजार के रूप में प्रयोग करती हैं। न केवल पंजाब बल्कि संपूर्ण देश के डिग्री कॉलेजों, नगरों, शहरों तथा ग्रामों में नशीली दवाओं तथा शराब का प्रसार उनके जीवन की खतरनाक स्थिति के पहलू को दर्शाता है। सोशल मीडिया तथा मनोरंजन उद्योग में युवाओं के बढ़ते जुड़ाव उनके वर्तमान पूर्वाग्रहों की तस्वीर प्रस्तुत करता है जिसके सकारात्मक तथा नकारात्मक, दोनों ही प्रभाव हैं। युवाओं में व्याकुलता की स्थिति साफ-तौर पर उच्च है। युवाओं में आत्महत्या की दर की प्रवृत्ति चिंताजनक है। कुल मिलाकर युवाओं का यह समूह जिसका किसी महाविद्यालय अथवा विश्वविद्यालय से संस्थागत संबंध है, अशांत स्थिति में है। यद्यपि वे समाज में अपना आयु समूह का 20 प्रतिशत ही हिस्सेदारी करते हैं, उनके पास महाविद्यालय छात्र की पहचान है जिसका समाज में किसी हद तक एक सम्मानजनक प्रतिष्ठा है। उनकी स्थिति कुल मिलाकर सामाजिक स्थिति की प्रकृति का द्योतक है। वे लोग धीरे-धीरे जान पाएंगे कि वे किस प्रकार और क्यों समाज के एक वर्ग के रूप में उपेक्षित हो रहे हैं। कमजोर बी.ए. छात्र पर यह वार्ता वास्तव में इस स्थिति को मान्यता प्रदान करती है– किसी अशांत पीढ़ी की उपेक्षा जो कि संभाव्यत: सर्वाधिक सर्जक है।

एक शिक्षक की चिंता

मैंने यह प्रस्तुतिकरण एक शिक्षक की चिंताओं को व्यक्त करने के लिए तैयार किया है न कि एक शिक्षा विशेषज्ञ के तौर पर। मैं नि:संदेह एक समाजविज्ञानी हूँ, परन्तु मैं राजनीतिशास्त्र के अध्यापक के रूप में चार दशकों से मानव अधिकार आंदोलन से भी

जुड़ा हुआ हूँ। मैं अपने अनुभवों के बारे में बताना चाहता हूँ और अपना दृष्टिकोण समझाने के लिए उनका उदाहरण भी देना चाहता हूँ।

मैंने दिल्ली कॉलेज में व्याख्याता के रूप में अध्यापन की शुरुआत की जो कि अब जाकिर हुसैन कॉलेज, दिल्ली कहलाता है किंतु वहां केवल 3 वर्ष पढ़ाया जो कि बहुत अल्प और बहुत पुराना अनुभव है जिसके आधार पर कोई आम धारणा नहीं बनाई जा सकती है। किंतु मैं बताना चाहता हूं कि इस अवधि में जो बदलाव हुए हैं उसके लिए कालेज में मेरा अल्पकालिक अनुभव एक संदर्भ बिंदु हो सकता है। मैंने अगले चार दशक से भी अधिक अवधि का प्रत्यक्षदर्शी रहा हूँ। विश्वविद्यालय विभाग के एक सदस्य के रूप में मेरा अनुभव वह मुख्य कारक था जिसने मुझे उल्लेखनीय रूप से इस समस्या को देखने का अवसर प्रदान किया। विश्वविद्यालय विभाग के अध्यापकों की तुलना में दिल्ली विश्वविद्यालय के महाविद्यालय के अध्यापकों के समग्र ऊंचे स्तर ने संपूर्ण अध्यापन काल में मुझे व्याकुल किया। मेरे छात्र जीवन में और महाविद्यालयों में मेरे अध्यापन काल के प्रारम्भ में बहुत ही प्रतिष्ठित अध्यापक थे। मैं उनमें से फ्रैंक ठाकुरदास, रणधीर सिंह, भीष्म साहनी, ए.एस. भल्ला और मेरी अपनी पीढ़ी के कृष्णा सोबती, उमा चक्रवर्ती, दिलीप साइमन के नाम लूंगा– मैं जानता हूं और भी बहुत से ऐसे नाम हैं जो कि दिल्ली विश्वविद्यालय के इतिहास में हमेशा याद किए जाएंगे। रणधीर सिंह ने जेएनयू में नियुक्ति पाई थी, बाद में वे दिल्ली विश्वविद्यालय में आ गए। दिल्ली विश्वविद्यालय ने निश्चित रूप से ऑक्सफोर्ड तथा कैम्ब्रिज की पद्धति अपनाई जहां महाविद्यालय, विश्वविद्यालय के मुख्य स्तम्भ होते थे और वे आज भी हैं। किंतु दिल्ली में विश्वविद्यालय की तुलना में महाविद्यालयों के बीच संसाधनों, मानकों, परिणामों, अध्यापन और अध्ययन सुविधाओं, कार्य स्थितियों तथा प्रतिष्ठा के मध्य अंतर लगातार बढ़ा। समुदाय तथा प्रेस इस बारे में केवल प्रवेश के समय वर्ष में मात्र एक बार बात करते हैं और महाविद्यालयों तथा विषयों में गिरते हुए क्रम में कट ऑफ अंकों का उल्लेख करते हैं (इस वर्ष प्रवेश संबंधी मुद्दों पर कुछ प्रमुख बिंदुओं को कवर करने वाली एनडीटीवी इण्डिया पर रविश कुमार की श्रृंखला उल्लेखनीय थी)। विश्वविद्यालय विभागों तथा महाविद्यालयों के मध्य इस सतत अंतर को एक निःसहाय दर्शक के रूप में देखना और महाविद्यालयों की अलग-अलग प्रतिष्ठा मेरे लिए सीखने वाला अनुभव रहा। मैंने इस परिघटना के पीछे के कारणों को समझने का प्रयास किया है।

हमने एक छोटे स्तर पर इस मामले को दिल्ली विश्वविद्यालय के राजनीति विज्ञान विभाग में उठाया। जबकि ''प्रतिष्ठित विभागों'' जैसे अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र

विभाग में एम.ए. में महाविद्यालय के अध्यापकों की भागीदारी थी मगर राजनीति विज्ञान में उनका अध्यापन गायब हो चुका था। मैं रणधीर सिंह के नेतृत्व को धन्यवाद देता हूं कि हमने महाविद्यालयों के अध्यापकों के साथ पाठ्यक्रमों की भागीदारी के माध्यम से ''सामूहिक अध्यापन'' को पर्याप्त रूप से सुदृढ़ किया। हमने दिल्ली विश्वविद्यालय में अनुसंधान, सेमिनार, पाठ्यचर्या विकास तथा सामाजिक कार्य के विषयों में महाविद्यालय के अध्यापकों को शामिल करते हुए एक सामूहिक शुरुआत के रूप में डीसीआरसी जैसे अनेक फोरम सृजित किए। मेरा हमेशा विश्वास रहा कि दिल्ली विश्वविद्यालय के महाविद्यालयों में अनेक विश्वविद्यालय विभागों से कहीं ज्यादा बौद्धिक रूप से बेहतर अध्यापक और विद्वान थे। विश्वविद्यालय की नियुक्तियां हमेशा केवल मैरिट आधारित निर्णय नहीं होतीं, अपितु ये विभिन्न परिस्थितियों का संयुक्त परिणाम होती हैं जिसमें पक्षपात, घटकवाद और जाति संबंधी मामले शामिल होते हैं। यहां तक कि कुछ उत्कृष्ट विद्वान अनेक अवसरों पर इनमें स्थान नहीं प्राप्त कर पाते।

जैसे-जैसे यह अंतराल बढ़ता रहा, अध्यापन कार्य उत्कृष्ट छात्रों के लिए कारपोरेट तथा सिविल सेवाओं के बाद दूसरा अथवा तीसरा विकल्प बन गया है। अच्छे उम्मीदवार किसी महाविद्यालय में अध्यापन की जगह अन्य कैरियर को वरीयता देते और यदि वे किसी महाविद्यालय में पदभार ग्रहरण करने वाले होते तो वे विश्वविद्यालय विभागों में अंतरित होने की संभावना तलाशते थे। महाविद्यालय में अध्यापकों का कार्यभार अत्यधिक होने के कारण उन्हें अनुसंधान के लिए समय निकालना मुश्किल हो जाता था। इस अंतराल को बढ़ाने में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की भूमिका बहुत बड़ी थी बावजूद इसके कि अध्ययन अवकाश का प्रावधान है। बगैर किसी आवश्यक तैयारी के सेमेस्टर प्रणाली लागू करने से अध्यापकों के कार्यभार में और वृद्धि हुई। महाविद्यालय में कुछ घंटों तक उनके बैठने की उपयुक्त व्यवस्था और कार्य करने की सुविधाओं के अभाव ने इसे और भी खराब कर दिया।

राजनीति विज्ञान में हमने यह सुनिश्चित करने का प्रयास किया कि प्रत्येक पाठ्यक्रम एक विश्वविद्यालय अध्यापक और एक महाविद्यालय अध्यापक द्वारा संयुक्त रूप से पढ़ाया जाए। (मैं यह स्वीकार करता हूँ कि मेरे सभी सहकर्मियों ने पाठ्यक्रम पढ़ाने के उनके अधिकार में ऐसे अतिक्रमण का स्वागत किया)। वास्तव में अकेले महाविद्यालय अध्यापकों द्वारा कुछ अभिनव पाठ्यक्रमों का प्रस्ताव दिया गया था क्योंकि वे मानव अधिकार, पर्यावरणीय राजनीति शास्त्र और लैंगिक अध्ययन जैसे पाठ्यक्रम में

नव प्रशिक्षित हुए थे। यह देखना बड़ा दुखद है कि यह प्रक्रिया तब बंद हो गई जब इन अध्यापकों को विभाग में शामिल किया। सामूहिक शिक्षा का संदर्भ जो कि किसी संघीय विश्वविद्यालय की अवधारणा का मूल तत्व था और जिसे दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा अपनाया जाना था, वास्तव में विगत दो दशकों के दौरान पूर्णरूप से समाप्त हो गया। एक समय विश्वविद्यालय के राजनीति विज्ञान विभाग में महाविद्यालयों के 200 अध्यापकों की तुलना में 7 से 10 अध्यापक थे। मौजूदा समय में महाविद्यालयों के 1000 से अधिक अध्यापकों की तुलना में विश्वविद्यालय विभाग में लगभग 30 अध्यापक हैं। विश्वविद्यालय विभाग और इसके अध्यक्ष नियुक्ति, पाठ्यचर्या निर्धारण, परीक्षा, प्रोन्नति और संबद्ध मामलों में अपनी शक्ति का प्रयोग एक प्रशासनिक हथियार के रूप में प्रयोग करते हैं। इसका मूल दृष्टिकोण किसी एक विषय के अध्यापकों के संपूर्ण निकाय को संगठित स्वरूप प्रदान करना था– वास्तव में दिल्ली विश्वविद्यालय की संविधि में यह दृष्टिकोण अब भी मौजूद है– वे समितियों, आमसभा बैठकों, मुद्दों का ठोस समाधन, यथा गिरते शिक्षा स्तर, हिंदी माध्यम के छात्रों को समान रूप से सक्षम बनाना और इसी प्रकार के अन्य मुद्दों तथा पाठ्यक्रम विकास, पाठ्यचर्या विकास में सामूहिक रूप से भागीदारी के प्रावधान मौजूद हैं। ऐसी पहलों में हमने कुछ प्रगति की है। किंतु वे असमान विकास की तीक्ष्ण लहरों से प्रभावित थे जो दिल्ली विश्वविद्यालय में शिक्षा सहित भारतीय समाज के सभी क्षेत्रों में व्याप्त है।

डूटा (दिल्ली विश्वविद्यालय अध्यापक संघ) में भागीदारी संबंधी मेरी गतिविधियां उच्च शिक्षा के बारे में मेरी चिंतन प्रक्रिया के लिए एक महत्वपूर्ण माध्यम थी। अध्यापकों के अधिकारों के चैंपियन की डूटा की भूमिका ने भारत में अध्यापक समुदाय के आर्थिक हितों की समग्र रूप से संरक्षा की है। इस समय अध्यापकों के वेतनमान उच्च सिविल सेवा के वेतनमानों के तुलनीय है– जबकि ब्यूरोक्रेट को कभी भी संपूर्ण समानता मान्य नहीं होती थी। यह डूटा और अखिल भारतीय विश्वविद्यालय फेडरेशन एवं महाविद्यालय अध्यापक संगठनों द्वारा वेतनमान के लिए किए गए व्यापक संघर्ष का परिणाम था। जबकि महाविद्यालय अध्यापकों का स्तर लगातार गिरता रहा और विश्वविद्यालय तथा महाविद्यालयों के मध्य अधिकार संबंधी अंतर सतत रूप से बढ़ता गया, डूटा ने अध्यापकों के विरुद्ध एक तरफा कार्रवाई और उत्पीणन पर सतर्क निगाह रखी। (लेकिन यह हमेशा सफल नहीं रहा जैसा कि जी.एन. साईबाबा के मामले में दिखाई दिया बावजूद इसके कि इस मामले में सतत प्रयास किए गए)। क्योंकि भारत में प्रतिस्पर्धात्मक दलगत राजनीति में तीव्रता और बढ़ी है। अध्यापकों का आंदोलन विभिन्न राजनीतिक

संगठनों से जुड़कर रह गया। कांग्रेस, वाम तथा बीजेपी के विभिन्न धड़ों ने अपने समर्थन आधार पर अब पूरी तरह से कब्जा जमा लिया और वे दिल्ली के महाविद्यालयों में अपने सदस्यों के हितों के बचाव में लगे रहे और उनके लिए वोट का महत्व अधिक था। इसी प्रकार से छात्र राजनीति भी दलों से संबद्ध हो गई और इनसे ठोस जुड़ाव स्थापित है। इसका एक सकारात्मक पहलू यह था कि मुख्य रूप से जब राजनीतिक सत्ता स्थानीय स्तर अथवा राष्ट्रीय स्तर पर एक दल से दूसरे दल में अंतरित होती थी, इन समूहों द्वारा आपसी जांचों में दूसरों की कमियों को लगातर उजागर करने का प्रयास किया जाता रहा। किंतु इसमें इस ध्वस्त हो रही प्रणाली से उत्पन्न चुनौतियों का मिलकर सामना करने के प्रयास बहुत कम होते थे। आर्थिक मांगों और समर्थन आधार बनाए रखने के अभियान अध्यापक आंदोलन पर इस कदर भारी पड़ चुके थे कि वे निर्धारित किए गए व्यावसायिक कौशल में हो रही गिरावट की ओर अधिक ध्यान देने के लिए पर्याप्त समय और मार्ग नहीं पा रहे थे। केवल तब, जब केन्द्र सरकार अध्यापकों के अधिकारों में कटौती, असंगत कार्य स्थितियां यथा कक्षा अध्यापन के घण्टों में वृद्धि अथवा बिना जन संवाद या न्यूनतम परामर्श के साथ शिक्षा संबंधी नई नीतियों की घोषणा के विरुद्ध कदम उठाने की स्थिति में क्या डूटा ने महत्वपूर्ण विचार-विमर्श शुरू किए और वैकल्पिक प्रस्ताव प्रस्तुत किए। अध्यापकों के हितों की रक्षा करने में डूटा की उपलब्धियां और केन्द्र सरकार की नीतियों के माध्यम से भारत में शिक्षा के व्यवसायीकरण और केन्द्रीयकरण की लहर को रोकने में विफलता उन सभी के लिए एक सीख है जो भारत की उच्चतर शिक्षा को समझते हैं। मैंने डूटा को अध्यापकों के हितों को संरक्षित करने वाली संगठनात्मक शक्ति के रूप में उभरते देखा है। मैंने इसके जटिल चरित्र के प्रभाव भी देखे हैं जिनमें विचारधारा आधारित समूह अध्यापकों के आंदोलन में रुकावटें पैदा कर टकराव की स्थिति पैदा करते हैं जिससे उच्चतर शिक्षा में बढ़ते संकट को सुलझाने में और अध्यापक समुदाय को नई चुनौतियों का सामना करने के लिए तैयार करने में मुश्किल पैदा होती है। डूटा को इसे और बड़े पैमाने पर करने की अपेक्षा थी जिनका कि वह नवउदारवादी वैश्वीकरण तथा डिजिटल प्रबंधन के अंतर्गत शिक्षा को कारपोरेट द्वारा हस्तगत करने के दौरान किया है। वर्तमान संकट के लिए हम सभी दोषी हैं।

लेकिन सबसे महत्वपूर्ण सीख जो मैं आपके साथ बांटना चाहूंगा जो मुझे 2002-2005 के दौरान, दिल्ली विश्वविद्यालय में मेरे अंतिम तीन वर्ष के दौरान बी.ए. प्रोग्राम समिति की पुनर्संरचना समिति की अध्यक्षता करते हुए मिली थी। मैं अब भी दिल्ली में इस

प्रक्रिया का पालन करता हूँ और सामान्य् रूप से इसी का अनुसरण करता हूँ। यह भारत में स्नातक शिक्षा के संकट पर मेरे व्यापक स्रोत का एक महत्वपूर्ण रूप है। जब मुझे तत्कालीन कुलपति दीपक नैय्यर ने इस समिति की अध्यक्षता करने के लिए आमंत्रित किया तब उनसे मेरा पहला प्रश्न यह था कि क्या वे हमारी सिफारिशों को लागू करवा पाएंगे? उनके सकारात्मक उत्तर ने मेरे प्रयासों को प्रोत्साहन दिया। यह देखकर मुझे प्रसन्नता हो रही है कि दशक के दौरान और बी.ए. प्रोग्राम में इसके क्रियान्वयन से यद्यपि कुछ परिवर्तन के साथ यह दिल्ली विश्वविद्यालय के महत्वपूर्ण कार्यक्रम के रूप में बढ़ा और यहां तक कि ऑनर्स पाठ्यक्रमों में भी इसे वरीयता दी गई और सर्वश्रेष्ठ छात्र भी इसकी ओर आकर्षित हुए और यह महाविद्यालय का सबसे बड़ा कार्यक्रम सिद्ध हुआ। पूर्ववर्ती बी.ए. पास पाठ्यक्रम को एक सामूहिक, सर्वसम्मति की प्रक्रिया में महाविद्यालय अध्यापकों तथा छात्रों के साथ-साथ विश्वविद्यालय अध्यापकों एवं परामर्श प्रक्रिया में प्रधानाचार्य तथा विभागाध्यक्षों की भागीदारी से एक नए आकर्षक बी.ए. कार्यक्रम में अंतरित करना और परामर्शदात्री बौद्धिक तथा शिक्षाशास्त्रीय मुद्दों का समाधान से गुजरना एक मूल्यवान अनुभव रहा। इससे समकालीन समय में शिक्षा संबंधी सुधारों के साथ इसकी सीमाओं की संभावनाओं का भी पता चला।

इसी दौरान मैं यह भी बताना चाहूंगा कि मैंने उड़ीसा के महाविद्यालयों का निकट से अध्ययन किया है और गवेषणा चक्र नामक एक अनुसंधान समिति से भी मैं जुड़ा रहा जो कि विगत 30 वर्षों से उड़ीसा में अनुसंधान में लगी हुई है। मूल रूप से यह महाविद्यालय के अध्यापकों का एक संगठन है जो कि राज्य के विभिन्न भागों में महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालय के परिसरों में बैठकें करता है और उड़ीसा में शिक्षा संबंधी संकट को देखता है तथा उसका विश्लेषण करता है और इस मामले में अनेक अध्ययनों का एक हिस्सा होने के कारण और संबंधित पहलुओं ने मुझे अनेक सीख दी। मैं यह भी बताना चाहूंगा कि सिविल लिबर्टी मामलों से जुड़े होने के कारण तथ्य खोज दल के सदस्य के तौर पर मुझे भारत के अनेक हिस्सों में जाने का मौका मिला जहां मुझे अलग-अलग समूहों तथा सामाजिक कार्यकर्त्ताओं सहित स्थानीय अध्यापकों, छात्रों, सामाजिक कार्यकर्त्ताओं और आमजन के साथ जुड़ने का अवसर प्राप्त हुआ जिनसे मुझे शिक्षा के संकट सहित अनेक मामलों पर बहुत कुछ सीखने का अनुभव प्राप्त हुआ।

इस बात से पूर्णरूप से भिज्ञ होने के कारण कि इस सीमित अनुभव से कोई भी संपूर्ण भारत की स्थिति के बारे में बात नहीं कर सकता और इस मामले पर प्रणालीबद्ध

अनुसंधान न किए जाने के कारण मुझे कुछ संभावनाओं को व्यक्त करने में अब भी डर लग रहा है। इन सभी प्रकार की बातों के प्रकटीकरण का उद्देश्य यह बताना है कि एक अध्यापक के रूप में, मैं एक पृष्ठभूमि, एक लोकतांत्रिक अधिकार संबंधी परिप्रेक्ष्य किसी संगत प्रश्न के लिए प्रस्तुत करना चाहता हूं। अब मैं इस संकट के परिमाण का पता लगाने वाले मुद्दों के पूरे सेट पर बोलना चाहूंगा और शिक्षा संबंधी, सामाजिक कार्यसमूहों तथा नीति निर्माताओं द्वारा हस्तक्षेप के लिए कुछ सुझाव देना चाहूँगा।

स्नातक शिक्षा का संकट : ढाई करोड़ युवाओं की दुर्दशा

विस्तार और सतत अल्पमूल्यांकन

सभी लोगों को इस बात का गर्व है कि भारत में प्रत्येक क्षेत्र में शिक्षा का प्रगामी रूप से विस्तार हो रहा है। उच्चतर शिक्षा के क्षेत्र में भी कोई भी यह देख सकता है कि 1950 में विश्वविद्यालयों की संख्या 30 से बढ़कर यह (47 केंद्रीय, 123 डीम्ड 360 राज्य सरकारी, 262 निजी तथा 3 विशेष राज्य अधिनियम) 2016–17 में अब 795 हो गई है। 2016–17 की विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यू.जी.सी.) की वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार 1947 में लगभग 2.1 लाख छात्र नामांकित थे और 2016–17 में विश्वविद्यालय तथा महाविद्यालय में नामांकन लगभग 294 लाख तक पहुंच गया है। महाविद्यालयों की संख्या जो कि 1950–51 में 700 के लगभग थी, 2016–17 में बढ़कर 42,358 हो गई (पृ. 74–123)। इस दौरान अध्यापकों की संख्या 24,000 से बढ़कर 14,70,000 हो गई। कुल नामांकन में से स्नातक कक्षाओं में 86.39 प्रतिशत और मास्टर स्तर पर 9.61 प्रतिशत नामांकन है जबकि शेष अनुसंधान और डिप्लोमा पाठ्यक्रमों में हुआ है। इस प्रकार हम स्नातक स्तर के पाठ्यक्रमों के 250 लाख छात्रों के बारे में बात कर रहे हैं जो कि 94.33 प्रतिशत महाविद्यालयों में और शेष विश्वविद्यालयों में अध्ययन कर रहे हैं। इनमें से लड़कियों की तुलना में लड़कों की संख्या 10 लाख अधिक है। इस प्रकार हम ढ़ाई करोड़ युवाओं की भारी संख्या की दुर्दशा के बारे में बात कर रहे हैं। हमें ध्यान रखना है कि वे उच्चतर माध्यमिक स्नातकों के कुल संख्या के 20 प्रतिशत से भी कम है और इस प्रकार 80 प्रतिशत उन युवाओं से बेहतर स्थिति में हैं जो कि महाविद्यालयों में प्रवेश भी प्राप्त नहीं कर पाते। उनकी जीवन स्थिति की कठिनाइयों के बारे में बात करना एक अलग कहानी है। उनकी स्थिति के साथ अगर हम लगभग 15 लाख महाविद्यालय अध्यापकों और 42,000 महाविद्यालयों की स्थितियों को भी जोड़ दें तो इस संकट का आकार स्पष्ट हो जाता है।

युवा वर्ग की इस व्यापक संख्या ने बी.ए. स्तर की शिक्षा के सतत् अल्प मूल्यांकन का अनुभव किया है। इसका मुख्य कारण केंद्र की वे सरकारें रही हैं जो कि अपने पसंदीदा शिक्षा सलाहकारों द्वारा दिशानिर्देशित होती हैं और जिनके विचार नई नीति की रूपरेखा को दर्शाते हैं। आपातकाल के दौरान 42वें संविधान संशोधन के माध्यम से शिक्षा को समवर्ती सूची में लाने से पहले केंद्र सरकार ने देशभर में विद्यालय और उच्चतर शिक्षा की नई प्रणाली पर यू.जी.सी. के माध्यम से वित्तीय नियंत्रण के औजार प्रयोग में लाये थे। लाखों युवाओं के जीवन को प्रभावित करने वाली नई नीतियों के प्रवर्तन में ऐसे संगत प्रयोगों से संघवाद की भावना का उल्लंघन हुआ। वे अक्सर बगैर पर्याप्त बातचीत के नई शिक्षा नीति घोषित कर देते हैं। कोठारी आयोग को छोड़कर शेष सभी प्रक्रियाएं एक नई शिक्षा नीति बनाने में अधिकांशत: सांकेतिक अथवा उनकी मौजूदा सोच के माध्यम से सावधानीपूर्वक दिशानिर्देशित परामर्शों द्वारा घोषित की गई हैं। एक उच्चतर शिक्षा आयोग बनाये जाने का नवीनतम प्रयास भी कोई अपवाद नहीं है।

4 वर्षीय आई.ए. तथा बी.ए. पाठ्यक्रम स्वतंत्रता से पहले से ही जारी थे। इसे बी. ए. के लिए तीन वर्षीय बी.ए. डिग्री कार्यक्रम और दूसरी ओर विद्यालय स्तर पर 10+2 से परिस्थापित कर दिया गया था। तब तक 11वर्षीय विद्यालयी और 4 वर्षीय महाविद्यालयी शिक्षा सहित कुल 15 वर्षीय शिक्षा प्रदान की जाती थी जो कि 6 वर्ष की आयु से शुरू होती थी। देशभर में इस योजना को क्रियान्वित करने में बहुत वर्ष लग गए। इसके बावजूद भी सभी राज्यों में उच्चतर माध्यमिक शिक्षा विद्यालय शिक्षा का भाग नहीं है।

बी.ए. का अल्प मूल्यांकन तब पता चलता है जब मास्टर डिग्री के बाद एम.फिल. नामक दूसरी मास्टर डिग्री 1970 में अपनाई गई। इसे पी-एच.डी. स्तर पर भारत में उच्चतर शिक्षा का स्तर बढ़ाने के उद्देश्य से किया गया था। तब से लेकर वर्तमान नेतृत्व विश्व स्तर को प्राप्त करने के लिए मनमाने ढंग से बार-बार शिक्षा कार्यक्रमों में परिवर्तन करता चला आ रहा है जो कि आज भी जारी है। पर्याप्त सलाह मशविरा और राष्ट्रीय सहमति के माध्यम से सतर्क नियोजन के आधार पर उच्चस्तरीय आत्मनिर्भरता स्थापित करने की कमी वर्तमान भारतीय शिक्षा नीति का एक पुनर्वर्ती लक्षण है। मानक स्थापना के स्थान पर मानकों का अनुगमन करने के कारण भारत के विद्वानों की आशाएं 1970 के बाद से कभी भी पूरी नहीं हो सकीं। नव-उदार वैश्वीकरण में कार्यरत संस्थानों के पश्चिमी प्रबुद्ध मंडलों द्वारा बताये गए उपचारों को अपनाकर वे भारतीय शैक्षणिक संस्थानों को विश्व की पूंजीगत प्रणाली में एकीकृत करते हैं।

यूरोप तथा संयुक्त राष्ट्र अमरीका के विश्वविद्यालय छात्र पी-एच.डी. अथवा स्नातक अध्ययनों में बी.ए. स्तर के बाद जाते हैं। कुछ पाठ्यक्रमों को पूरा करने की प्रक्रिया में अथवा कोई लघु शोध प्रबंध लिखने के लिए वे पी-एच.डी. के एक भाग के रूप में एम.ए. डिग्री का चयन कर सकते हैं। अनेक विश्वविद्यालयों में जब कोई छात्र पी-एच.डी. के लिए उपयुक्त नहीं पाया जाता तो उसे एम.फिल. या एक टर्मिनल डिग्री के रूप में एम.लिट. देकर अध्ययन छोड़ने के लिए कहा जाता है। 1980 के बाद से भारत में छात्रों को कार्य के बाजार में नियुक्ति लेने के बजाय देर तक विश्वविद्यालय में रोके रखने की नीति शासकों द्वारा बनाई गई है और नौकरी का बाजार भी सभी नवागंतुकों को समाहित करने के लिए पर्याप्त रूप से विस्तारित नहीं किया गया है। एम.फिल. कार्यक्रम को जोड़े जाने की नीति छात्रों की दो पीढ़ियों के लिए न केवल गलत है, क्योंकि इससे वह पीड़ित होते हैं बल्कि इससे एम.ए. डिग्री का अवमूल्यन होता है, परिणामत: बी.ए. डिग्री भी अवमूल्यित हो जाती है। दिल्ली विश्वविद्यालय में 2012-13 में चार वर्षीय डिग्री कार्यक्रम शुरू करने के प्रयास के पीछे संयुक्त स्नातक डिग्री को राज्य अमरीका के विश्वविद्यालयों के तुलनीय बनाने का लक्ष्य था। यह नीति-निर्माताओं का एक और दु:साहसिक प्रयास था। सौभाग्यवश यह फलीभूत न हो पाया क्योंकि छात्रों और अध्यापकों ने इसका विरोध किया।

रोज़गार के मामले में जहाँ स्नातक डिग्री पर्याप्त थी, हमने देखा है कि वहां एम.ए., एम.फिल. डिग्रीधारी भी नौकरियों के लिए आवेदन दे रहे हैं। प्रवक्ता की नियुक्ति हेतु अब पी-एच.डी. से पहले एम.फिल. किया जाना यू.जी.सी. के मानदंडों में है। तदंनतर पी-एच.डी. अनिवार्य योग्यता है। इसकी वजह से भारी मात्रा में पी-एच.डी. डिग्री धारी पैदा किए जा रहे हैं जिनकी गुणवत्ता पर प्रश्नचिह्न है। व्याख्याताओं के चयन के लिए उपचारात्मक उपाय के रूप में नेट परीक्षा अथवा महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालय में शिक्षा के मानकों की जांच हेतु स्थापित प्रत्यायन परिषद् भी बमुश्किल शीर्ष नेतृत्व द्वारा विचारहीन नीतियों के साथ बनाई गई उच्चतर शिक्षा की संरचनात्मक गिरावट को रोकने में कारगर नहीं है।

40 वर्ष पहले तक केवल बी.ए. की डिग्री होना एक बहुत बड़ी उपलब्धि थी। ये ग्रेजुएट कुछ विषयों, लेखन कौशल, भाषायी सक्षमता तथा उदारवादी मूल्यों के प्रति वचनबद्धता का तर्कसंगत ज्ञान रखते थे। दशकों तक किए गए पुनर्संरचना और बगैर किसी समर्थन के उपायों के किए गए विस्तार ने किसी डिग्री कार्यक्रम को आज किसी

मूल्य का नहीं छोड़ा है क्योंकि आज के ग्रेजुएट प्रत्येक क्षेत्र में अत्यधिक अल्प ज्ञान रखते हैं। प्रसंगवश स्नातक डिग्री आज केवल यू.पी.एस.सी. के माध्यम से सिविल सर्विस परीक्षा की आवश्यकता मात्र रह गई है जिसने एक निकाय को लाखों की संख्या में रोबोट की तरह कार्य करने वाला युवा बनाने का तंत्र बना दिया है जिनके पास सामान्य ज्ञान और विषय परीक्षा में उत्तीर्ण होने की कुछ तकनीकें हैं, न कि किसी भी क्षेत्र में गंभीर ज्ञान। इसके परिणामस्वरूप इन्हें पैदा करने वाले कोचिंग संस्थानों के निजी उद्योग की बाढ़ आ गई है। जो इसमें उत्तीर्ण हो जाते हैं वे राज्यों के उपनिवेशी प्रबंधन ढ़ांचे, अर्थव्यवस्था और समाज में प्रवेश कर जाते हैं जो उतने ही ज्ञान से यथास्थिति बनाये रखने अथवा राजनीतिक आकाओं के एजेण्डे को पूरा करने की अपनी अत्यधिक शक्तियों का उपभोग करते हैं न कि संविधान के एजेण्डे की। 95 प्रतिशत वे लोग हैं जो कि सेवाओं में प्रवेश करने में विफल रहते हैं, दूसरे प्रकार के जीवन में प्रवेश करते हैं जिसमें उसी प्रकार की रोबोटिक प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। स्नातक शिक्षा में यू.पी.एस.सी. परीक्षा प्रणाली के रूपांतरण के साथ-साथ गिरावट सतत् रूप से जारी है।

अनेक व्यापार उपक्रम अच्छे महाविद्यालयों के नव-स्नातकों की ओर देखते हैं। यद्यपि उनमें से अधिकांश आई.आई.एम. प्रणाली अथवा किसी निजी प्रबंध संस्थानों से सीधी भर्ती करते हैं जो कि सभी जगह सुलभ कराए जा रहे हैं। कारपोरेट व्यवसायों, जो व्यवसाय संबंधी प्रशिक्षण देते हैं, में बी.ए. स्नातकों की सीधी भर्ती में गिरावट हो रही है क्योंकि बी.ए. की डिग्री का अत्यधिक अवमूल्यन हो चुका है।

बी.ए. के स्नातक की स्थिति उल्लेखनीय रूप से दु:खद है, भले ही महाविद्यालय शिक्षा के विस्तार ने निर्धन वर्ग के बच्चों, विशेष रूप से किसानों, कामगारों, दलितों तथा आदिवासियों और ज्यादा से ज्यादा महिलाओं को उच्च शिक्षा में जाने का अवसर दिया है। सूदूरवर्ती क्षेत्रों में भी महाविद्यालय खुल गए हैं और प्रत्येक एम.पी. तथा एम.एल.ए. अपने चुनाव क्षेत्र में महाविद्यालय खुलवाने के लिए कार्य कर रहा है। 2006-07 में केंद्र सरकार का महाविद्यालयों में प्रवेश के लिए अन्य पिछड़ा वर्ग (अ.पि.व.) को कोटा देने का निर्णय एक तर्कसंगत निर्णय था जो कि बहुत पहले दिया जाना चाहिए था। किंतु इस स्वागत योग्य् निर्णय को भी बगैर पर्याप्त सुविधाओं के लागू किया गया। (महाविद्यालय का एक अध्यापक जो इस नीति का समर्थक है, उसने मुझे बताया कि उसकी कक्षा में अधिकतम 40 सीट हैं लेकिन अब 60 छात्रों को बैठाना पड़ता है, जिनमें से अनेक

दरवाजे के बाहर अपनी उपस्थिति दर्ज कराने के लिए खड़े रहते हैं क्योंकि यह अनिवार्य है। ऐसी स्थिति में उन्होंने बताया कि पढ़ाने का मजा अब समाप्त हो गया है क्योंकि अब सभी छात्रों को जानना और उनसे घनिष्ठतापूर्ण संबंध स्थापित करना असंभव है)।

गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों की तरह जिसने कुछ अस्थायी राहत प्रदान की थी अथवा गरीबी की रेखा से नीचे रहने वाली जनसंख्या को अल्पावधि के लिए अल्पकालिक लाभ पहुंचाया था, उच्चतर शिक्षा के प्रसार ने बी.ए. करने का सामाजिक प्रतिष्ठा का भाव प्रदान किया जबकि डिग्री की कीमत वास्तविक रूप से गिर रही है। राजनेता निश्चित तौर से अपने क्षेत्र में नए महाविद्यालय बनवाने और सीटें भरवाने तथा अपने महाविद्यालयों में छात्रवृत्तियां दिलवाने के दावे कर रहे हैं। महाविद्यालय खोलने और यहां तक कि राजनीतिक दबाव के चलते विश्वविद्यालय तक खोलने अथवा शासक दल के सरोकार हेतु उस क्षेत्र में तत्कालिक स्वीकृति प्रदान की जा रही है किंतु पर्याप्त निधि का आवंटन, आवश्यक अवसंरचना का निर्माण, नियमित अध्यापकों की नियुक्ति, छात्रों के लिए आवश्यक पढ़ाई की सुविधाएं तथा इस प्रकार के अन्य अपेक्षित सुविधाओं का अभाव था। वास्तव में तदर्थ, अंशकालिक तथा अतिथि प्रवक्ताओं अथवा कम वेतनमान में व्याख्याताओं को रखने का चलन देशभर में तेजी से फैल रहा है और यह अध्यापन कार्य को हतोत्साहित करता है। महाविद्यालयों का विस्तार आवश्यक है और यह कुछ लोगों को गतिशीलता प्रदान करता है। किंतु अधिसंख्यक छात्रों के लिए जीवन में उच्च शिक्षा प्राप्त कर आगे बढ़ना एक भ्रम है। कोई संदेह नहीं है कि ऐसी स्थितियों में भी कुछ छात्र आगे आयें और मजबूती से आगे बढ़ें। किंतु अधिकांश छात्र पूर्णतया लापरवाही का शिकार होते हैं। यद्यपि देश के विभिन्न भागों में कुछ स्वधिकार प्राप्त महाविद्यालयों ने अपने ढांचागत सुधार के रास्ते प्राप्त कर लिये हैं और कुछ मानक भी बनाये हैं। तथापि वे स्नातक शिक्षा के मूल्यों के समग्र गिरावट के परिणामों से बच नहीं सकते। वे देशभर के 250 लाख छात्रों में से एक लाख से अधिक छात्रों को इसमें शामिल नहीं कर सकते। किंतु प्रत्येक महाविद्यालय को निर्धारित पाठ्यचर्या का पालन करना होता है जो राज्य-दर-राज्य अथवा विश्वविद्यालय दर विश्वविद्यालय भिन्न होता है किंतु यू.जी.सी. द्वारा सुझाये गए कुछ कतिपय पाठ्यक्रमों को अपनाये जाने पर वह अनुदान की स्वीकृति प्राप्त करने का पात्र बन जाता है। 1992 के बाद से यू.जी.सी. द्वारा स्नातक पाठ्यक्रमों की पुनर्संरचना के लिए दिशानिर्देश नियत किए गए हैं और महाविद्यालयों द्वारा उन्हें अपनाने पर बल दिया गया है। इससे शैक्षिक प्रणाली के केंद्रीकरण में न केवल वृद्धि हुई है बल्कि वह

पाठ्यचर्या लादी जा रही है जो शासन की आर्थिक नीतियों के सुसंगत है न कि स्थानीय परामर्श प्रक्रिया का परिणाम। यही कारण है कि हम मौजूदा संकट की स्थिति में हैं।

टैगोर तथा गांधी के शिक्षा संबंधी दृष्टिकोण कहां हैं?

ज्ञान से हटाकर कौशल शिक्षा पर फोकस करना

टैगोर के दृष्टिकोण से शिक्षा एक सृजनात्मक अनुभव है जिसमें विद्यार्थी, समाज तथा प्रकृति के साथ अटूट संबंध जोड़ता है और उसमें स्वयं को आगे बढ़ने के मार्ग की समझ विकसित करता है तथा विश्व को बेहतर तरीके से सेवा प्रदान करने की क्षमता प्रदान करता है। शांति निकेतन में विश्व मानव (यूनिर्वसल ह्यूमन) का निर्माण विश्व भारती का लक्ष्य था। टैगोर के शिक्षा दर्शन के अनेक पहलुओं को पुनः याद किये जाने की आवश्यकता है। पहला, शिक्षा का प्रत्येक स्तर महत्वपूर्ण है और उपयोगी है– पूर्व प्राथमिक विद्यालय, विद्यालय, महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय। दूसरा, प्रत्येक शिक्षक को प्रत्येक स्तर पर पढ़ाना होगा और सभी को सम्मान दिया जाए। तीसरा, जीवन का प्रत्येक पहलू एक अनुशासन का निर्माण करता है और वह दूसरे पहलू से जुड़ा रहता है। मानविकी, विज्ञान, संगीत, कला तथा प्रौद्योगिकी एक समग्र शास्त्र का निर्माण करते हैं। चौथा, स्वतंत्रता प्राप्ति तक विश्वभारती में यूरोपीय विश्वविद्यालयों की तरह विषयवार विभाग नहीं थे। इसके बाद ही विश्वभारती में यूरोपीय विश्वविद्यालय की तर्ज पर विशविद्यालय अनुदान आयोग के दिशानिर्देश के अनुसार विषयवार विभाग स्थापित किए गए। शांति निकेतन में शांति निवास और अधिगम के बीच विलक्षण सामंजस्य स्थापित था जहां लोग स्थानीय हस्तकलाओं को कार्य अनुभव द्वारा समृद्ध किया जाता था एवं इन्हें सिखाने वाले अनुभवी देसी शिल्पकार अध्यापक के रूप में कार्यरत थे। पांचवा, पश्चिम तथा पूर्व, समस्त विश्व की परम्पराओं तथा इतिहास के माध्यम से ज्ञान प्राप्त किया गया, और केवल पश्चिमी स्रोतों से ही नहीं। यूरोपीय भाषाओं के साथ गैर–पश्चिमी भाषाओं और संस्कृतियों, चीनी, जापानी, फारसी के अध्ययन को सार्थकता के साथ बढ़ावा दिया गया। भारतीय भाषाएं तथा संस्कृति इसके केंद्र में रहीं। छठा, साथ–साथ रहना, सीखना, पढ़ाना और काम करना एक समग्र अनुभव था जिसमें एक–दूसरे पर प्रभाव डालते हुए समग्र मूल्यों को आत्मसात करना था। इसको संस्थान द्वारा पुष्ट किया गया। वृक्षों के नीचे कक्षाएं चलाना, परिसर के खेतों में खेती करना, जानवरों की देखभाल, उत्पादन, गायन, चित्रकारी, नाटकों में अभिनय, लेखन और कविता पाठ में हिस्सा लेना उतना ही महत्वपूर्ण था जितना कि व्याख्यानों में उपस्थित रहना, पुस्तकालयों में पुस्तकें पढ़ना तथा

प्रयोगशालाओं में प्रयोग करना। सातवां, शांति निकेतन का दीर्घावधि के लिए डिग्री प्रदान करने में विश्वास नहीं था। सीखना और जीवन संबंधी अनुभव ही शांति निकेतन का प्रमाणपत्र था जिसने अनेक विचारकों, कलाकारों, संगीतज्ञों, सामाजिक वैज्ञानिकों को देश के अनेक भागों से लाकर इकट्ठा किया।

यदि कोई शांति निकेतन का दौरा करे तो ये सभी अब दिखाई नहीं देते। अब यह एक केंद्रीय विश्वविद्यालय के रूप में रूपांतरित हो चुका है जो सामान्य संस्थानों के समान यू.जी.सी. मानदंडों का पालन करता है। किंतु यदि आप इस महान संस्थान के इतिहास को जानते हैं और इसके कुछ विद्यार्थियों से मिले हैं, यहां मैंने विद्यार्थियों के लिए उत्पाद शब्द का प्रयोग किया है जिसके लिए मैं क्षमा प्रार्थी हूं। आप उस दौर के इस तरह के अभ्यास देख और समझ सकते थे। मुझे नहीं पता कि वहां आज भी बृहस्पतिवार को साप्ताहिक अवकाश मनाते हैं? किंतु उस दृष्टिकोण को हमारे आज के महाविद्यालयों के साथ तुलना करें और देखें कि हम किस हद विपरीत दिशा में जा चुके हैं।

गांधी का आश्रम एक शिक्षा का स्थान था यद्यपि कार्य और अध्ययन, स्वतंत्रता आंदोलन का पाठ्यक्रम था। किंतु हम अहमदाबाद के गुजरात विद्यापीठ को इसके विशिष्ट श्रम अध्ययन तथा ग्रामीण भारत में सृजनात्मक प्रक्रियाओं पर केंद्रित अध्ययन तथा पश्चिमी ज्ञान प्रणाली के साथ संबद्धता को एक संदर्भ बिंदु के रूप में ले सकते हैं। वास्तव में गांधीजी की नई तालीम का परिप्रेक्ष्य उनके दृष्टिकोण के सिद्धांतों को स्पष्ट करता है। इस पर बहुत अधिक अनुसंधान और प्रकाशन उपलब्ध हैं, किंतु भारतीय शिक्षा नीति पर इसका बहुत कम प्रभाव है।

गांधीजी के शिक्षा दर्शन के तीन पहलू आज के संदर्भ में ध्यान देने योग्य हैं। पहला, प्रत्येक व्यक्ति को कक्षा अध्ययन की प्रमुखता के साथ उत्पादक कार्यों में भागीदारी के द्वारा मानसिक श्रम तथा शारीरिक श्रम के मध्य बढ़ती खाई को कम करना। दूसरा, शिक्षा का मतलब किसी के जीवन में सत्य के अनुसरण हेतु क्षमता प्राप्त करना है। गांधीजी का जीवन सत्य का प्रयोग 'एक्सपेरिमेंट विद ट्रूथ' ही नहीं था बल्कि मानवीय जीवन तथा कार्य के प्रत्येक पहलू ही उनका जीवन दर्शन था। तीसरा, विद्यालयों तथा महाविद्यालयों और इससे बाहर की शिक्षा स्वराज के संघर्ष में मानव जीवन का एक अटूट भाग है– आत्म-चिंतन एक सतत् उत्प्रेरक प्रक्रिया है जो किसी एक अथवा सभी की सृजनात्मक क्षमता की प्रक्रिया पैदा करती है। 'स्व' आत्म को अन्य के विरुद्ध पैदा नहीं किया जा सकता किंतु अन्य के साथ स्वयं के रूप में संबंध बनाये जा सकते हैं। संघर्ष के कालक्रम

में प्रभुत्व, शोषण तथा असमानता के संबंधों में रूपांतरण होता है। मौजूदा नीति-निर्माताओं के लिए यह बहुत दूर का विचार हो सकता है। इनमें से कोई भी सिद्धांत हमारी आज की शिक्षा प्रणाली को प्रेरित नहीं करता।

अपने मतभेदों के बावजूद टैगोर तथा गांधी, दोनों ही औपनिवेशिक शिक्षा प्रणाली के प्रखर आलोचक थे और उन्होंने इसका विकल्प भी प्रदान किया। इन विकल्पों में पूंजीगत औद्योगिक क्रांति और इसके ब्रह्मांड विज्ञान की मौलिक आलोचना निहित है। स्वतंत्रता पश्चात् के शुरुआती दशकों में राधाकृष्णन आयोग तथा कोठारी आयोग ने मूल बिंदु के तौर पर एक आधुनिक औद्योगिक राष्ट्र निर्माण के नेहरू एजेण्डा को अपनाने के बावजूद अपने ढ़ांचे में कुछ दर्शन भी समाहित किया था। उनके लिए समानता, स्वतंत्रता, सदभाव और सभी पुरुष, महिलाओं तथा बच्चों तथा समाज के सभी वर्गों के लिए न्याय मुख्य लक्ष्य था जिसके लिए राज्य को मुख्य भूमिका निभानी थी। 1980 में यह एजेण्डा धीरे-धीरे बदल गया। 1990 में आर्थिक सुधारों के अपनाए जाने के बाद नव उदार एजेण्डा ने शिक्षा को पूंजीगत विकास का एक औजार बना दिया। इस दौरान उदारवादी लोकतंत्र पर अ.जा. (अनुसूचित जाति), अ.ज.जा. (अनुसूचित जन जाति) तथा बाद में अ.पि.व. (अन्य पिछड़ा वर्ग) के लिए आरक्षण बनाए रखने और उच्चतर शिक्षा के उपाय करने का दबाव पड़ा। यह शासक वर्ग की एक वैधानिक नीति ज्यादा थी न कि संरचनात्मवक रूपांतरण की ओर उठाया गया कोई ठोस कदम। आज इस संवैधानिक प्रावधान को शासकों द्वारा भारत की आर्थिक प्रगति के लिए एक रोड़े के रूप में प्रचारित किया जा रहा है। समय-समय पर हमने दल के नेताओं की आरक्षण समाप्त कर देने की इच्छा सुनी है।

यह इस संदर्भ में है कि भारत में शिक्षा का वर्तमान संकट उभरा है। महाविद्यालयों में सीटों को बढ़ाया जाना चुनावी लोकतंत्र की मांग का प्रत्युत्तर है। शिक्षा के लिए जन धन का घटते जाना और कारपोरेट क्षेत्र को शिक्षा के तीव्र निजीकरण के माध्यम से शिक्षा को एक लोकहित के बजाए लाभ का व्यापार बनाना है। किंतु इससे राज्य क्षेत्र में भी ज्ञान के प्रसार को अपने तरीके से दिशा दी जा सकती थी। 2000 की अंबानी-बिड़ला रिपोर्ट में इस विमर्श को निर्णयात्मक रूप से तैयार किया गया जिसे ज्ञान आयोग ने अनुसंशित किया था। प्रस्तावित उच्चतर शिक्षा संबंधी प्रस्तावित आयोग में यह प्रवृत्ति जारी है। शिक्षा की अंतर्वस्तु और प्रकृति में इस प्रक्रिया के दौरान ज्ञान प्रदान करने से लेकर कौशल प्रशिक्षण तक सुस्पष्ट परिवर्तन हुए। कौशल मिशन के सक्रिय कार्यक्रमों तथा पहलों ने राज्य तथा पूंजी को ज्यादा आकर्षित किया न कि उच्चतर शिक्षा के संकट को।

शैक्षणिक विषयों को अब बाजार में पुनः ग्रेड प्रदान किए गए। इंजीनियरिंग तथा आयुर्विज्ञान के व्यावसायिक पाठ्यक्रम पहले से ही छात्रों की पहली पसंद बने हुए थे। प्रौद्योगिकी को मौलिक विज्ञान की तुलना में ऊंचा आंका गया। साहित्य, दर्शन तथा मानविकी को विज्ञान की तुलना में कम महत्व का बताया गया। सामाजिक विज्ञान में एक समय अर्थशास्त्र, इतिहास तथा राजनीति विज्ञान की सबसे ज्यादा मांग थी। धीरे-धीरे वाणिज्य तथा व्यापार प्रबंधन पहली पसंद बन गए। अधिक-से-अधिक विषयों को कवर करने और उन्नयन प्राप्ति के प्रयासों में पाठ्यचर्या को इतना विषद् बना दिया गया कि छात्रों को पुस्तकें पढ़ने और अन्य गतिविधियों में भाग लेने के लिए थोड़ा बहुत समय ही शेष बचा- जिन्हें अन्य क्रियाकलाप के रूप में बकवास कार्य करार दिया गया। बाजार ने की-बुक्स- कुंजी के रूप में दर्द निवारक उपलब्ध करा दिए। छात्रों ने शार्टकट तरीके प्राप्त कर लिए और प्रणाली को धता बताते हुए अंक प्राप्त करना सीख लिया किंतु ज्ञान अप्राप्य रहा।

हाल के वर्षों के डिजिटल युग में राज्य तथा कारपोरेट ने घनिष्टता के साथ मिलकर विद्यालयों तथा महाविद्यालयों में कम्प्यूटर, लैपटॉप उपलब्ध कराने पर कार्य किया है। राजनीतिक नेता ऐसे उपायों के लिए प्रशंसा प्राप्त करने की होड़ लगाए हुए हैं। प्रौद्योगिकी तथा पूंजी ने शिक्षा प्रणाली पर कब्जा कर लिया है जैसा कि सरकारी तथा निजी, दोनों ही संस्थान शीर्ष से की जा रही इस मांग को अनिवार्यतः अपनाने में लगे हुए हैं। उद्योग इससे लाभ कमाकर खुश हैं। यह देखने पर कि देश के सभी महाविद्यालयों में संसाधन प्रदान करने के लिए पर्याप्त धन नहीं हैं, कुछ महाविद्यालयों को चयन करने की नीति और उन्हें स्वायत्त महाविद्यालय कहा जाना प्रारम्भ किया गया। यह नीति 1990 के राममूर्ति समिति के बाद के सभी आयोगों की एक साझा सिफारिश बन चुकी है।

शिक्षा के औद्योगीकरण और स्नातक शिक्षा के अवमूल्यन की इस लहर के दौरान दिल्ली विश्वविद्यालय में बी.ए. पुनर्संरचना समिति ने हस्तक्षेप करने की चुनौती स्वीकार की। हम मौजूदा संरचना और वित्तपोषण में ही पाठ्यक्रमों की पुनर्संरचना का प्रयास कर पाए। अध्यापकों, छात्रों तथा आमंत्रित विशेषज्ञों के साथ दो वर्षों तक विचार-विमर्श के पश्चात हमने 4 घटकों : फाउन्डेशन कोर्स, भाषा तथा साहित्य पाठ्यक्रम, विषय पाठ्यक्रम तथा अनुप्रयोग पाठ्यक्रम से युक्त नया बी.ए. कार्यक्रम का पैकेज तैयार किया। इसे तीन वर्षीय पाठ्यक्रम में विस्तारित किया गया। सामाजिक पड़ताल; समकालीन भारत; मानवाधिकार; लिंग तथा पर्यावरण; और भाषा, साहित्य और संस्कृति जैसे कुछ फाउन्डेशन

पाठ्यक्रमों ने प्रत्येक छात्र को उसके पर्यावरण के बारे में पढ़ने का अवसर प्रदान किया, भले ही वह किसी भी विषय के छात्र हो। दुर्भाग्यवश कुछ मामलों में फाउन्डेशन कोर्स का संकुचित स्वरूप लागू कर दिया गया जिसका फायदा उठाते हुए और तत्कालीन कुलपतियों और सत्ताधारी दल के प्रिय विषयों को पाठ्यक्रम में शामिल कर दिया गया। इस अनुप्रयोग के तहत पाठ्यक्रम सांख्यिकी तथा कंप्यूटर एप्लीकेशन से लेकर हिंदुस्तानी संगीत का अभिमूल्यन, विधि साक्षरता और पर्यटन सहित 27 की यह मूल सूची बढ़ते-बढ़ते 56 तक जा पहुंची। महाविद्यालय नए पाठ्यक्रमों का प्रस्ताव कर सकते थे और उन्हें शामिल कर सकते थे तथा इन्हें अपने स्वयं के महाविद्यालय अथवा दूसरे महाविद्यालय में पढ़ाए जाने की व्यवस्था करने के लिए दूसरे महाविद्यालय के सहयोगियों की सहायता ले सकते थे। इससे महाविद्यालय के छात्रों को शहर में उपलब्ध बड़ी प्रतिभाओं से जुड़ने का मौका मिला जो कक्षाओं के लिए आए थे अथवा इंटर्न के तौर पर छात्रों को प्रवेश दे रहे थे। विषयों का पाठ्यक्रम अब दूसरों के समान और भी रुचिकर हो जाना चाहिए था। भाषा तथा साहित्य पाठ्यक्रमों को भी छात्रों की आलोचनात्मक योग्यता प्रदान करने के लिए पुनः अवधारित किया जाना चाहिए था। इस कार्यक्रम ने बहुत से छात्रों को आकर्षित किया जिन्होंने इसे अपने जीवन तथा रुचि के साथ सुसंगत पाया।

किंतु स्नातक शिक्षा के अवमूल्यांकन की सामान्य प्रवृत्ति सतत रूप से बनी रही और यह संकट पूरे देश में बहुत बड़े अनुपात में फैल चुका है। आधुनिक महाविद्यालय अपंगता उत्पाद की फैक्ट्री बन चुके हैं। ये खुराफाती दिमाग, अपंग हाथ, धूमिल दृष्टि, अतिरेक भावना, डगमगाते कदम और आक्रामक मूल्यों वाले लाखों युवा पैदा कर रहे हैं। उनका मस्तिष्क जो प्रश्न पूछने, सृजन और नवाचार युक्त कार्यों के लिए समर्थ है उसे अत्यधिक दबाव में रखा गया है और उसे उसकी क्षमता अनुसार बढ़ने नहीं दिया जा रहा है। उनमें अपने क्षेत्रों में कार्य करने की इच्छा अब नहीं रही है जिससे वे अपने हाथों से सुन्दर और उपयोगी वस्तुएं तैयार कर सकते हैं। अपनी उंगलियों का किसी लैपटॉप की बोर्ड अथवा सेलफोन पर उपयोग करना उनकी सबसे बड़ी पूर्वव्यस्तता बन चुकी है। इतिहास में उनका विश्वास, भारत के बहु-धर्म प्रणाली में सुदृढ़ तौर से परिवर्तित होकर उनकी दृष्टि को धुंधला बना रहा है। जब उन्हें ये बताया जाता है कि भारत का एकमात्र धर्म है। उनके भविष्य को उनके शासकों द्वारा परिभाषित किया गया है न कि उन्हें अपना भविष्य तय करने की क्षमता प्रदान की गई है। संस्कृति, धर्म, पक्षपाती हित, नस्लीय

पहचान, किसी नेता अथवा संगठन के प्रति समर्पण के मुद्दों पर वे आसानी से भड़ककर अत्यधिक भावनात्मक बन जाते हैं और दूसरों पर आक्रामक रूप से हावी हो जाते हैं। शिक्षा को उन्हें इस तरह प्रतिबद्ध बनाना चाहिए कि वे कारण का प्रयोग कर शांत मस्तिष्क से वाद-विवाद कर सकें। वे वास्तविक तथा लाक्षणिक रूप से स्वयं कोई निर्णय लेने में मुश्किल से समर्थ हो पाते हैं। वे आधारभूत रूप से असुरक्षित हैं इसलिए उन्हें सहायता के लिए कोई समूह, बचाव के लिए कोई गार्ड अथवा हथियार की आवश्यकता होती है। डर से मुक्ति जो कि शिक्षा का एक लक्ष्य था, आज एक बहुत दूर की बात है। और आज किन मूल्यों को पैदा किया जा रहा है? प्यार और सेवा अथवा प्रश्न और कारण नहीं, न्याय के लिए संघर्ष नहीं, केवल किसी समुदाय और किसी हित अथवा कारण से स्वयं का बचाव जिसके लिए आपको खड़े रहने के लिए प्रेरित किया गया है। प्रतिस्पर्धा, जोड़-तोड़ और लड़ाई के माध्यम से दूसरों पर आक्रामक हो जाना आधुनिक युवा की दूसरी प्रकृति है। जिसे हम अपंगता कहते हैं वास्तव में उन्हें कुछ लोगों द्वारा क्षमता के रूप में उपचारित किया जाता है और आधुनिक महाविद्यालय भी इसे उनकी उपलब्धि मानते हैं। यह भी सत्य है कि इसी संकट और अपंगता प्रक्रिया के दौरान अनेक छात्र इससे बाहर आए और उन्होंने महान मूल्यों, प्रतिभाओं और सृजनात्मक क्षमता के साथ सफलता प्राप्त की। लेकिन उनकी संख्या नगण्य है। जमीनी हकीकत यह है कि उच्चतर शिक्षा का व्यापक रूप से क्षय हुआ है। यह एक बहुत बड़ा स्नातक संकट है।

क्या किया जाना चाहिए?

इस बात को भली-भांति जानते हुए कि ये सुझाव शिक्षा पर नव उदारवादी नीति जिसे शासकों द्वारा मजबूती से आगे बढ़ाया जा रहा है, ज्वार की लहर के विरुद्ध है फिर भी इन्हें अध्यापकों, सामाजिक कार्य समूहों तथा नीति-निर्माताओं के मध्य वाद-विवाद के एजेण्डा के तौर पर विचार-विमर्श के लिए अवश्य प्रस्तुत किया जाना चाहिए। अन्यथा आने वाली पीढ़ी हमें क्षमा नहीं करेगी। ये प्रस्ताव इस विश्वास पर आधारित हैं कि शिक्षा और स्वास्थ्य को देश के विकास में सर्वोच्च प्राथमिकता दी जानी चाहिए। स्नातक शिक्षा के इस मामले में 18-21 वर्ष के आयु समूह में महत्वपूर्ण प्रतिभा के इस भारी संख्या का समर्थन किए जाने के प्रयास अवश्य किया जाना चाहिए ताकि यह व्यापक रूप से फूले-फले और स्नातक वयस्क जीवन में समझ-बूझ वाले बन सकें। ये विचार इस संकट के हमारे विश्लेषण पर आधारित हैं।

1. **शिक्षा प्रबंधन का विकेन्द्रीकरण :** राज्यों तथा क्षेत्रों अथवा जिलों को उनकी समानुपातिक निधियां तथा शक्ति मिलनी चाहिए जिससे महाविद्यालय अपने शैक्षणिक संस्थान का प्रबंधन करने में समर्थ हो सकें। राज्य और केन्द्रीय निधियां बगैर किसी पक्षपाती हस्तक्षेप के स्वीकृत मानदण्डों के अनुसार प्रत्यक्ष रूप से महाविद्यालय को आवंटित की जानी चाहिए। जिला प्रतिनिधि को केन्द्रीय तथा राज्य निधियों के अतिरिक्त उनसे भी उनकी आय के कुछ भाग का योगदान करने की मांग करनी चाहिए जो कि क्षेत्र में शिक्षा तथा स्वास्थ्य संबंधी स्थानीय संसाधनों का लाभ उठा रहे हैं। केन्द्र तथा राज्य सरकारों के निकायों तथा अभिकरणों को वितरण तथा कारगर संदर्भ संबंधी विचारों का निरूपण करना चाहिए। इन्हें महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय पर लादा नहीं जाना चाहिए। विश्वविद्यालय समाज के मध्य स्थित एक सभ्य संस्थान है जिसे राज्य वित्तपोषण के माध्यम से सहायता प्रदान करता है और समाज की सेवा तथा सभ्यता के लिए इसकी गरिमा तथा स्वायत्तता का सम्मान करता है। इसके बदले में संस्थान को आत्म-मूल्यांकन के द्वारा सतत रूप से यह सिद्ध करना होगा कि इसने इस पर किए गए विश्वास को पूरा किया है। यहां तक कि यदि कोई निजी न्यास किसी महाविद्यालय की स्थापना करता है तो उसे भी इसी ढ़ांचे में कार्य करना होगा। यह दृष्टिकोण भारत में उच्चतर शिक्षा आयोग बनाए जाने के हालिया बिल से पूर्णतया अलग है जिसमें संपूर्ण उच्चतर शिक्षा प्रणाली को केन्द्रीकृत किया जाना है।

2. **महाविद्यालयों का सामूहिक स्व-प्रबंधन :** अध्यापकों, छात्रों तथा समुदाय को अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से संयुक्त रूप से महाविद्यालय का प्रबंधन करना चाहिए जिनका नियत कार्यकाल होना चाहिए। समुदाय की भागीदारी की लोकतांत्रिक प्रक्रिया को यह सुनिश्चित करना होगा कि कमजोर वर्गों यथा– भूमिहीन, असंगठित कामगार, दलित, आदिवासी, महिला, अल्पसंख्यंकों को निर्णय लेने की प्रक्रिया में प्रतिनिधित्व प्राप्त हो। अकादमिक तथा सामाजिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए वे अपने संस्थानों के पहलूओं का अनुसरण कर सकते हैं। वे स्वयं के प्रति तथा जिला परिषद के प्रति भी उत्तरदायी होंगे जो जनता का प्रतिनिधित्व करती है। उनकी प्रतिष्ठा को समुदाय द्वारा उनके संस्थान के स्नातकों की उपलब्धि के माध्यम से आंका जाएगा। इससे प्रत्येक महाविद्यालय किसी क्षेत्र में स्थित स्व-शासित महाविद्यालय बनेगा लेकिन एक विस्तृत, राष्ट्रीय तथा वैश्विक सोच के साथ।

3. **एक ही महाविद्यालय में बी.ए. तथा एम.ए. कार्यक्रम :** प्रत्येक पोस्ट ग्रेजुएट अध्यापक को बी.ए. स्तर पर भी पढ़ाना चाहिए। ऐसे भी महाविद्यालय हो सकते हैं जहां व्यावहारिक कारणों से एम.ए. की पढ़ाई प्रदान नहीं कराई जा रही। किंतु एम. ए. की कोई विशिष्ट पढ़ाई नहीं होनी चाहिए। सभी विश्वविद्यालय विभागों को बी. ए. तथा बी.ए. (आनर्स) कार्यक्रम चलाने चाहिए। महाविद्यालय के अध्यापकों को जहां एक ओर विद्यालय के अध्यापकों से निकटवर्ती संपर्क स्थापित करना चाहिए वहीं दूसरी ओर अनुसंधान सुविधाओं तक भी पर्याप्त पहुंच होनी चाहिए। मौजूदा बाधाओं को तोड़ने और अध्यापकों के विभिन्न स्तरों पर स्वतंत्रता को बढ़ावा देने के उल्लेखनीय तरीके उनके ऊपर किसी और प्रकार का भार डाले बिना खोजे जाने चाहिए।

4. **सत्य का पता लगाने और मानवता की सेवा हेतु ज्ञान :** सभी विषय महत्वपूर्ण हैं। महाविद्यालय विषयों के चयन के बारे में निर्णय ले सकते हैं बेशक वे राज्य अथवा केन्द्र और उनके परिषदों की अनुशंसाओं के अनुरूप हैं अथवा नहीं। फांउण्डेशन कोर्स तथा एप्लीकेशन कोर्स, दोनों ही उसी प्रकार महत्वपूर्ण हैं जिस प्रकार मानविकी, सामाजिक विज्ञान तथा प्रकृति विज्ञान के समस्त क्षेत्रों में भाषाई क्षमता तथा विषयों का अध्ययन। भाषाओं के रूप में अंग्रेजी तथा अन्य भाषाओं में प्रशिक्षण के साथ स्थानीय भाषा में अनुदेश हेतु आवश्यक मानदण्ड होना चाहिए जिनमें किसी विद्यार्थी को 3 से 4 वर्षों में प्रवीणता प्राप्त होती है। ऐड ऑन, स्व-वित्त पोषित व्यावसायिक कोर्सों पर दिया गया मौजूदा बल मुख्य कार्यक्रमों में व्यवधान पैदा कर रहा है। यदि वे महत्वपूर्ण हैं तो उन्हें पाठ्यचर्या का हिस्सा बना देना चाहिए।

5. **सतत सामूहिक मूल्यांकन :** वार्षिक अथवा सेमेस्टर परीक्षाएं चाहे वे वस्तुनिष्ठ हों अथवा निबंध प्रकार की, दोनों को ही समाप्त कर देना चाहिए। इनके स्थान पर कक्षा में छात्र समूहों द्वारा अध्यापकों की सहायता से सतत स्व-मूल्यांकन तथा परस्पर मूल्यांकन होना चाहिए। पाठ्यक्रम के प्रत्येक खण्ड के प्रारम्भ में उन्हें सामूहिक रूप से यह निर्णय करना होगा कि वे किस प्रकार विषय को सर्वाधिक रूप से व्यापक बना सकते हैं, उसे याद रख सकते हैं, उनके द्वारा नियत किए गए कार्यक्रम के आधार पर क्रियान्वित कर सकते हैं। आपसी मूल्यांकन के विभिन्न प्रारूपों– निबंध, पेपर, विचार-विमर्श, वाद-विवाद, उन्होंने क्या सीखा उसके अनुप्रयोग के लिए क्षेत्र दौरों जैसे उपायों के माध्यम से वे अध्यापक का स्थान ले

सकते हैं। वर्तमान प्रणाली छात्र के अविश्वास पर आधारित है और सभी के लिए तनाव से भरी हुई है। मूल्यांकन को सामान्यतः तनावरहित मनोरंजक अनुभव होना चाहिए। यह तभी संभव है जब महाविद्यालयीय छात्र की परिपक्वता को स्वीकार किया जाएगा और मूल्यांकन प्रक्रिया में छात्र को भागीदार बनाया जाएगा जो कि उनके हित में है। अध्यापक 'मास्टर' की भूमिका में न होकर 'ज्ञान प्रदाता' के रूप में हो, मास्टर अधिकारिक रूप से छात्रों को आदेशित करता है, आदेशात्मक रूप से ज्ञान प्रदान करता है। अध्यापक को छात्र मित्र, एक सह-शिक्षार्थी सत्य और सृजनात्मक क्षमता की खोज में एक-दूसरे की सहायता करने वाला होना चाहिए।

कमजोर बी.ए. छात्रों द्वारा उपर्युक्त और इसी प्रकार के अन्य विचारों की मांग की जाने वाली है जो पहले से ही अधिक जागरूक हो चुके हैं। वे शिक्षा को कौशल कहलाने वाली वस्तु के रूप में रूपांतरित राज्य तथा केन्द्र के एजेण्डे को चुनौती देने के लिए बाध्य हैं। वे अच्छी शिक्षा के अधिकार की मांग रखते हैं क्योंकि शिक्षा ही समानता और स्वतंत्रता का महत्वपूर्ण मार्ग है। अध्यापक को छात्र और समुदाय को अध्यापक के साथ आना चाहिए और महाविद्यालय को ऐसा स्थान बनाना चाहिए जहां शिक्षा आनन्द प्रदान करती हो। इससे स्वयं, समाज, प्रकृति, पर्यावरण तथा सभ्यता की खोज का आनन्द प्राप्त होगा। बहुत से लोग, युवा तथा वरिष्ठ नागरिक अभी से बदलाव के इस पथ पर आगे बढ़ रहे हैं। इसलिए आशा बरकरार है। नीपा ने अनेक बार इसे प्रदर्शित किया है।

परिप्रेक्ष्य
वर्ष 25, अंक 2, अगस्त 2018

विकास एवं प्रगति के प्रतिमान
बिहार के विशेष संदर्भ में*

सुधांशु भूषण**

बिहार आर्थिक संघ का 19वां वार्षिक सम्मेलन बुद्धिजीवी समुदाय के लिए सम्मान और गौरव की बात है जो राज्य की प्रगति के लिए अथक रूप से काम कर रहा है। बिहार के आर्थिक संघ के मंच पर विभिन्न बाधाओं के बावजूद शिक्षक और शोधकर्ता एक साथ आते रहे हैं और राज्य के लोगों के आर्थिक जीवन के विभिन्न पहलुओं पर चर्चा करते रहे हैं– विशेष रूप से, कैसे मानव संसाधन और प्राकृतिक संसाधानों को राज्य में सामाजिक और आर्थिक अवसरों को बढ़ाने के लिए समेकित किया जा सकता है। वास्तव में राज्य ने प्रगति की है। उच्च जीडीपी (सकल घरेलू उत्पाद) वृद्धि को लेकर बहुत अधिक उत्साह व्यक्त किया जाता है। हालांकि, चिंताजनक तथ्य यह है कि राज्य अभी भी घोर गरीबी, मजबूरन प्रवासन, गरीबों की असुरक्षा, बाढ़, बिजली और पेयजल की समस्याओं और यातायात तथा प्रदूषण के खतरों से पीड़ित है। इन सबके बीच एक महत्वपूर्ण सवाल यह उठता है– क्या हम दावा कर सकते हैं कि उच्च जीडीपी के साथ प्रगति हुई है, क्या जीडीपी के आकड़ों के आधार पर मानव जीवन के जोखिम और असुरक्षा की समस्याओं की अनदेखी की जा सकती है? मैं सिर्फ उच्च सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि को लेकर अपने आपको सहज महसूस नहीं कर पाता हूँ, अगर असमानता और सभी प्रकार की असुरक्षा की दृष्टि से जन कल्याण बहुत कम है। यदि कोई व्यक्ति राज्य में अपने बच्चों को अच्छी शिक्षा नहीं दे पाता है, वह अपनी बेटी को गरिमा के साथ शिक्षित और शादी करने में सक्षम नहीं है, वह संतोषजनक चिकित्सा सेवाएं प्राप्त करने में सक्षम नहीं है और ऐसी स्थिति में, एकल आयामी सकल घरेलू उत्पाद/प्रति व्यक्ति आय सूचकांक का दावा है कि राज्य प्रगति कर रहा है, मेरी राय में यह अत्यधिक असंतोषजनक बात है।

---

* प्रस्तुत आलेख 'इकोनोमिक एसोसिएशन ऑफ बिहार' के 19वें सम्मेलन में मुख्य संबोधन के रूप में प्रस्तुत किया गया था।

**प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, उच्चतर एवं व्यावसायिक शिक्षा विभाग, नीपा, नई दिल्ली-110016

यह ध्यान देने योग्य है कि बिहार इकोनॉमिक एसोसिएशन के 19वें वार्षिक सम्मेलन में पैनल चर्चा तथा स्मारक व्याख्यान के साथ चंपारण सत्याग्रह के आर्थिक प्रभाव, विमुद्रीकरण बनाम काला धन, भारतीय कर प्रणाली पर जी.एस.टी. का प्रभाव और बिहार तथा झारखंड में असंगठित क्षेत्र के लिए कौशल विकास एवं डॉ. मनमोहन सिंह के आर्थिक विचार को प्रमुख विषय बनाया गया है। प्रगति के दावों के बावजूद किसानों के असंतोष को देखते हुए चंपारण सत्याग्रह महत्वपूर्ण है। कौशल विकास महत्वपूर्ण है क्योंकि प्रगति के साथ रोजगार के बढ़ते अवसर, संतोषजनक नौकरी और आय उपार्जन होना चाहिए। दूसरी ओर, विमुद्रीकरण को काला धन पर अंकुश लगाने और कर संरचना को सरल बनाने में जी.एस.टी. को कारगर औजार माना गया था। सुधार की वर्तमान लहर को दो दशक पहले शुरू हुई मनमोहन सिंह की बाजार आधारित आर्थिक सुधारों की नीति की निरंतरता के रूप में देखा जाना चाहिए।

मेरे इस संबोधन का मूल उद्देश्य सामान्य रूप में, प्रगति का अर्थ समझने के लिए है, और बिहार के विशेष संदर्भ में दो विरोधी घटनाओं की ओर ध्यान आकर्षित करना है: एक ओर सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि से भौतिक समृद्धि बढ़ने का संकेत और दूसरी ओर लोगो में असुरक्षा का भय जो जनकल्याण को बाधित करता है। उत्तर बिहार जिले में अपने परिवार के विवाहोत्सव में भाग लेने के लिए विमान द्वारा पटना एयरपोर्ट पर उतरने पर भी क्या एक अमीर व्यक्ति अपने को सहज महसूस कर सकता है जब उसे रास्ते में यह संदेश मिलता है कि दुल्हे का दूसरी लड़की से शादी करने के लिए अपहरण कर लिया गया या वह पटना से कार से यात्रा करते समय लंबे समय तक ट्रॉफिक जाम में फंसे होने के कारण आयोजित समारोह स्थल पर समय पर पहुंच नहीं सका था। ये देखने में मामूली मगर विशिष्ट स्थितियां हो सकती हैं। लेकिन जब राज्य में खराब चिकित्सा सुविधा के कारण कोई रोगी मर जाता है या कोई युवा गुणवत्तापूर्ण शिक्षा नहीं प्राप्त कर पाता और अपने परिवार पर बोझ बना रहता है, ऐसी स्थितियां चिंताजनक हैं। और यदि यह एक सर्वव्यापी घटना है तो निश्चित रूप से सभी प्रकार के भय और असुरक्षा के साथ ऐसी भौतिक समृद्धि का इस प्रगति के लिए कोई मायने नहीं हो सकता और न ही यह न्यायसंगत हो सकता है।

इसलिए मैंने अध्यक्षीय संबोधन के लिए प्रगति के अर्थ को ही अपना विषय चुना है। उम्मीद है कि बुद्धिजीवी समुदाय जो बिहार के आर्थिक संघ का प्रतिनिधित्व करता है, मुझे इसके अर्थ की पड़ताल करने की अनुमति देगा और यदि यह उसकी बौद्धिक जिज्ञासा को पूरा करता है तो वे इसे और परिष्कृत करने पर विचार कर सकता है। इस विचार–विमर्श में अमर्त्य सेन की *'दि आइडिया आफ जस्टिस'* (न्याय का विचार) में विवेचित क्षमता का

विचार चर्चा के केंद्र में होगा। मुझे आशा है कि यह संबोधन, विकास अर्थशास्त्र में दिलचस्पी रखने वाले शिक्षकों और शोधकर्ताओं के लिए एक दिशानिर्देश भी होगा जो कुछ सूचकांकों के साथ विकास के लिए अर्थपूर्ण हैं या लोगों की खुशी के लिए महत्त्वपूर्ण हैं जिसे दो हजार साल पहले अरस्तु ने 'निकोमैकियन एथिक्स' (Nicomachean Ethics) में 'उदैमोनिया' (Eudaimonia) ने कहा था। इससे सार्वजनिक नीति को जी.डी.पी. या प्रति व्यक्ति आय के एकल आयामी मापन के अलावा प्रगति के अन्य सूचकांकों द्वारा निर्देशित किया जा सकता है।

समस्या निवारण की प्रगति

बिहार के आर्थिक सर्वेक्षण 2017–18, वॉल्यूम I के प्राक्कथन में बिहार के मुख्यमंत्री लिखते हैं कि 2005–06 में शुरू हुई बिहार में विकास प्रक्रिया एक दशक से भी अधिक समय तक जारी रही है और 2016–17 में राज्य ने दो अंको के साथ 10.3 प्रतिशत की वृद्धि दर्ज की है। पूरक वित्तीय अनुशासन ने राज्य अर्थव्यवस्था के सतत विकास को बढ़ावा दिया। सर्वेक्षण के मुख्य सारांश में कहा गया है कि 2004–05 से 2014–15 के दौरान नियत कीमतों पर राज्य आय 10.1% बढ़ी है। बिहार अर्थव्यवस्था के विकास के मुख्य कारक हैं : खनिज और उत्खनन (67.5%), विनिर्माण (25.9%), परिवहन, भंडारण और संचार (13.5%) और वित्तीय सेवाएं (10.1%)। राज्य वित्त विश्लेषण में विकास व्यय के लिए मौजूदा राजस्व खाता अधिशेष का दावा किया गया है। कृषि उत्पादन, उर्वरकों की खपत, क्रेडिट का प्रवाह, राज्य में बुनियादी ढांचे, बिजली उपलब्धता आदि में वृद्धि हुई है। मानव विकास संकेतकों के रूप में अस्पतालों में रोगियों की बढ़ती संख्या, एकीकृत बाल विकास योजनाओं (आईसीडीएस) के लिए बजटीय प्रावधान में हुई वृद्धि को स्वास्थ्य सेवा में प्रगति माना गया है। हैंडपंप लगाना, स्वच्छता विस्तार, साक्षरता दर में वृद्धि आदि को भी मानव विकास सूचकांक में सूचीबद्ध किया गया है।

क्या सकल घरेलू उत्पाद आदि के संदर्भ में प्रयुक्त संकेतक राज्य में समग्र प्रगति को व्यक्त करते हैं? दूसरी तरफ, रिपोर्टें आती हैं कि उत्तर बिहार में हर साल बाढ़, घरबार, खाद्यान्न की कमी और महामारी की समस्याएं पैदा करती है। लाखों लोग प्रभावित होते हैं। सरकार द्वारा न्यूनतम समर्थन मूल्य की घोषणा के बावजूद लाखों किसान खाद्य और गैर खाद्य वस्तुओं की गैर लाभकारी कीमतों के कारण ऋण के दुश्चक्र में फंसे रहते हैं। किसान असुरक्षा में जीते हैं और उन्हें शायद ही कभी बाजार या गैर बाजार में चयन की स्वतंत्रता है। कुपोषण और साफ–सफाई की कमी संक्रामक बीमारियों का कारण बनती है और लोगों को शायद ही कभी चिकित्सा सुविधाओं की गारंटी दी जाती है। ऐसे लाखों

बच्चे हैं जो स्कूल से बाहर हैं और जीवन की रचनात्मक डोर को जोड़ने के लिए कुछ भी उपलब्ध नहीं है। सवाल यह है कि– जीवनयापन संबंधी मूलभूत संकेतकों की गुणवत्ता खराब होने पर विकास का क्या मायने है? अधिकांश लोग असुरक्षा में रहते हैं। वे जनकल्याण में सुधार के लिए अपेक्षित स्वतंत्रता और सामाजिक और आर्थिक अवसरों की कमी से पीड़ित हैं। अत: जाहिर है कि जी.एस.डी.पी. जनकल्याण या जीवन की गुणवत्ता को मापने का माध्यम नहीं है।

जन कल्याण का अर्थ

अरस्तु और बुद्ध का हवाला देते हुए 2012 में जॉन हेलीवेल, रिचर्ड लेयर्ड और जेफरी सैस द्वारा संपादित वर्ल्ड हैपिनेस रिपोर्ट में व्यक्त किया गया है कि ''अकेले भौतिक लाभ हमारी गहरी जरूरतों को पूरा नहीं करेगा। भौतिक जीवन का उपयोग किया जाना चाहिए ... पीड़ा दूर करने, सामाजिक न्याय, और खुशी की प्राप्ति के लिए'' (हेलीवेल, आदि 2012, पृष्ठ 3)। दुनिया की आर्थिक महाशक्ति संयुक्त राज्य अमेरिका के मामले का हवाला देते हुए, रिपोर्ट में कहा गया है कि देश अनिश्चितताओं, चिंताओं, असमानताओं और इसी तरह से अन्य प्रकार की मानवीय वेदनाओं से पीड़ित है। नतीजतन बड़ी भौतिक समृद्धि के बावजूद संतुष्टि लगभग स्थिर रही है। रिपोर्ट का मूल संदेश यह है कि स्थायी विकास के संदर्भ में पृथ्वी की भौतिक प्रणालियों को जलवायु, कार्बन चक्र, जल चक्र, नाइट्रोजन चक्र, और जैव विविधता सहित संरक्षित करने के लिए न केवल भौतिक समृद्धि के संदर्भ में प्रगति के अर्थ को समझना आवश्यक है बल्कि पृथ्वी की भौतिक प्रणाली की रक्षा के मामले में भी बहुत ध्यान देने की आवश्यकता है जो हमारी भौतिक समृद्धि का स्रोत है। इस संदर्भ में प्रसन्नता या खुशी की खोज महत्वपूर्ण है।

रिचर्ड ईस्टरलिन (2001) ने दो विरोधाभासी घटनाओं का साक्ष्य दिया है– 1. किसी भी समाज के भीतर एक समय पर, अमीर लोग गरीब लोगों (व्यापक रूप में ''तथ्य'') से औसतन खुश होते हैं; 2. कई समाजों के भीतर समय के साथ, जब देश की आय बढ़ती है तो आबादी यानी जनता औसतन खुश नहीं होती है (एक समय श्रृंखला ''तथ्य'')। विरोधाभास को याद करते हुए उन्होंने ध्यान दिया कि किसी विशेष समय पर लोग सापेक्ष आय के मामले में अन्य लोगों की तुलना कर रहे हैं। इसलिए उच्च आय वाले लोग कम आय वाले लोगों की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक खुशी महसूस करते हैं। इसकी पुष्टि तथ्य 1 करता है। लेकिन समय के साथ, लोगों की सापेक्ष सकल आय स्थिर बनी रहती है। यह समय के साथ निरपेक्षपूर्ण आय में वृद्धि के साथ भी खुशी के स्थिर स्तर को बताता है। इस सापेक्ष आय परिकल्पना को समझने के लिए एक स्पष्टीकरण के रूप में प्रस्तुत किया गया

था कि मजबूत आर्थिक विकास के बावजूद संयुक्त राज्य अमेरिका में औसत खुशी क्यों नहीं बढ़ी है? देशों के व्यापक नमूने के लिए एक शोध में आगे ईस्टरलिन (2013) ने उल्लेख किया कि ''अमीर, गरीब और विकासशील देशों के लिए, चाहे उन्हें अलग से वर्गीकृत किया गया हो या विश्लेषित किया गया हो, इस बात का कोई सबूत नहीं है कि उच्च वृद्धि दर जीवन संतुष्टि में सुधार की दर में वृद्धि करती है। आर्थिक विकास की दोगुनी दर जीवन संतुष्टि में वृद्धि को दोगुना नहीं करती है, बल्कि, साक्ष्य यह है कि इसका कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं होता है।'' यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि चीन ने हाल के दशकों में व्यापक रूप में भौतिक समृद्धि देखी है। चीन में 2002 से 2010 के बीच की अवधि में आर्थिक स्थिति सूचकांक 52 से 93 तक बढ़ गया, फिर भी औसत जीवन संतुष्टि (1–10 के पैमाने पर) 5.27 से बढ़कर मात्र 5.85 हो गई)। (ईस्टरलिन, 2013) आलेख से पता चलता है कि रोजगार और सामाजिक सुरक्षा जाल के पक्षधर सार्वजनिक नीति उच्च विकास दर की तुलना में केवल खुशी के स्तर को बढ़ाने को महत्व देता है।

वर्ल्ड हैपिनेस रिपोर्ट में भौतिक समृद्धि के अलावा खुशी के कारणों की पड़ताल की गई है। कार्य (बेरोजगारी, कार्य की गुणवत्ता, स्व रोजगार और सेवानिवृत्ति), सामाजिक पूंजी (विश्वास, बंधन, स्वतंत्रता और समानता), मूल्य और धर्म (परोपकार, भौतिकवाद और पर्यावरण सहित), शारीरिक स्वास्थ्य, परिवार (विवाह और बच्चे), शिक्षा को महत्वपूर्ण कारक माना गया है। उम्र और लिंग के साथ जीवन संतुष्टि भी भिन्न होती है। रिपोर्ट से यह उभरता है कि किसी व्यक्ति के कल्याण को प्रभावित करने वाले कारक का नीतिगत महत्व है। अत: सरकार को न केवल जनकल्याण के माप के पैमाने निर्धारित करने की जरूरत है बल्कि नीति हस्तक्षेप को एक घटक बनाने और नियमित रूप से इसकी निगरानी करने के लिए प्रयास करने की जरूरत है। दरअसल यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि भूटान एक ऐसा देश है जिसने लोगों के कल्याण को राष्ट्रीय लक्ष्य के रूप में मापने के लिए सकल राष्ट्रीय खुशहाली सूचकांक (जीएनएच) अपनाया है। जीएनएच के नौ डोमेन (मनोवैज्ञानिक कल्याण, समय का उपयोग, सामुदायिक जीवन शक्ति, सांस्कृतिक विविधता, पारिस्थितिकी, लचीलापन जीवन स्तर, स्वास्थ्य, शिक्षा, सुशासन) का अध्ययन जनकल्याण को समझने के लिए मूल्यवान अंतर्दृष्टि प्रदान करता है। ऐसे प्रश्न जैसे–कि आप कितने घंटे सोते हैं, या आराम करते हैं, या ध्यान करते हैं, या समुदाय के लिए जीवन व्यतीत करते हैं, या झगड़ा करते हैं; आदि प्रश्न लोगों की खुशी का आकलन करने के विस्तृत सर्वेक्षण में शामिल हैं? (भूटान स्टडीज सेंटर और जीएनएच रिसर्च, 2016)

जनकल्याण के मामले में प्रगति के अर्थ की खोज के लिए, फ्रांस के राष्ट्रपति निकोलस सरकोज़ी ने प्रो. अमर्त्य सेन के साथ प्रोफेसर जोसेफ ई स्टिग्लिट्ज की अध्यक्षता में एक

आयोग का गठन किया जिसके समन्वयक प्रोफेसर जीन पॉल फिटौस्सी और पीठ सलाहकार प्रो. अमर्त्य सेन नियुक्त किए गए। कमीशन की रिपोर्ट के लेखकों ने जीडीपी पर सामाजिक कल्याण के उपाय के रूप में अपनी चिंताओं को दर्ज किया है, खासकर जब औसत प्रति व्यक्ति जीडीपी में वृद्धि के सापेक्ष असमानता बढ़ जाती है और ऐसे मामलों में भी जब वायु प्रदूषण, यातायात जाम इत्यादि सकल घरेलू उत्पाद में वृद्धि के साथ-साथ प्रतिकूल रूप से प्रभाव डालते हैं। दरअसल, ऐसी परिस्थितियों में जहां दंगों, आत्महत्या, प्रदर्शन, पेयजल की कमी, बाढ़ इत्यादि घटनाएं आए दिन घटित होती हैं और मानव जीवन को प्रभावित करती हैं, सकल घरेलू उत्पाद पर एकमात्र निर्भरता या औसत प्रति व्यक्ति आय, औसत जन कल्याण सूचकांक को पर्याप्त रूप से प्रकट नहीं कर सकती हैं। इसलिए वे सुझाव देते हैं कि हमारे *''माप प्रणाली में आर्थिक उत्पादन मापन की अपेक्षा जनकल्याण मापन पर जोर देने की आवश्यकता है।''* (स्टिग्लिट्ज, सेन और फिटौस्सी, 2011, पृष्ठ 10)

सिफारिशों के पहले सेट में, आयोग के सदस्यों ने उल्लेख किया है कि उत्पादन के बजाय आय और खपत के मामले में भौतिक कल्याण का माप, विश्लेषण के लिए एक इकाई के रूप में परिवार, संयुक्त रूप से आय और खपत तथा संपति के वितरण को प्रमुखता, खपत और धन और गैर-विपणन गतिविधियों के साथ आय के उपायों के विस्तार को ध्यान में रखा जाना चाहिए। सिफारिशों के दूसरे सेट में, वे बताते हैं कि जनकल्याण बहुआयामी है जिसमें भौतिक जीवन स्तर, स्वास्थ्य, शिक्षा, कार्य गतिविधियाँ, राजनीतिक स्वर और अभिशासन, सामाजिक संबंध, पर्यावरण और असुरक्षा शामिल हैं। वे सिफारिश करते हैं कि जीवन संकेतकों की गुणवत्ता में व्यापक रूप से असमानताओं का आकलन करना चाहिए। जीवन की गुणवत्ता में सुधार हेतु जीवन आयामों की गुणवत्ता की पहचान के लिए एक व्यापक रूपरेखा तैयार की जानी चाहिए और जीवन गुणवत्ता में सुधार के लिए नीतियों का उपयोग किया जाना चाहिए। इसमें स्थायित्व को मापने के लिए एक व्यावहारिक दृष्टिकोण का भी सुझाव दिया गया है।

संसाधन बनाम क्षमताएं

हाल के शोधों से पता चलता है कि जनकल्याण भौतिक समृद्धि को बहिष्कृत नहीं करता है। परंतु जनकल्याण एक बहु आयामी चर है। खुशी सूचकांक के अंतर्गत लोगों की संतुष्टि में शिक्षा, स्वास्थ्य, स्वच्छता, परिवार, धर्म, पर्यावरण, शांति, स्थिरता, कार्य की स्थिति आदि जैसे जीवन के विभिन्न पहलु शामिल हैं। भौतिक समृद्धि अपने आप में अनंत है। यह किसी अंत का साधन मात्र है। अरस्तू ने कहा है कि खुशी ही एकमात्र संतुष्ठि है जो ''अपने आप में कल्याण है।'' जबकि अरस्तू के इस दार्शनिक उत्तर से

कई लोग सहमत हो सकते हैं। ऐसे कुछ लोग भी हो सकते हैं जो यह तर्क दे सकते हैं कि यह पक्ष कुछ हद तक व्यवहारिक नहीं है। वास्तविक जीवन में लोग पैसे और सत्ता के पीछे ही भागते हैं जो उनकी जीवन गतिविधियों का ध्येय होता है। ऐसे भी लोग हैं जो खुशी या कल्याण की परवाह नहीं करते या कुछ ऐसे भी लोग हैं जो मात्र अपने उपभोग के लिए धन खर्च नहीं करते और संन्यासी का जीवन जीते हैं या चैरिटी (जनकल्याण) में अपना धन व्यय करते हैं तथा कुछ लोग पांच सितारा होटलों में एशो-आराम की जिंदगी जीते हैं। जो लोग पक्ष में तर्क देते हैं वे इस नैतिक जिम्मेदारी से बच नहीं सकते क्योंकि वे साथ रहते हैं तथा पृथ्वी के संसाधनों का दोहन करते हैं। इसलिए ऐसे लोगों से अपील है कि समग्र जनकल्याण के विकास को मूलभूत रूप से महत्व दिया जाए या कम से कम वांछित विकास का वह मॉडल जो टिकाऊ है, उसे अपनाया जाए।

वांछनीय है कि अमर्त्य ने अपने श्रृंखलाबद्ध अनुभवजन्य कार्यों में दिखाया है कि कैसे प्रति व्यक्ति जीडीपी का समृद्धि और प्रगति के मापन में पक्षतापूर्ण उपयोग हो सकता है। अपने प्रारंभिक अध्ययन में सेन ने पाया है कि ब्राजील और मैक्सिको का प्रति व्यक्ति जीएनपी (सकल राष्ट्रीय उत्पाद) भारत, चीन और श्रीलंका के प्रति व्यक्ति जीएनपी से लगभग सात गुना से अधिक था फिर भी जीवन-प्रत्याशा, शिशु मृत्यु (संख्या) एवं शिशु मृत्यु दर का प्रदर्शन श्रीलंका में सबसे बेहतर था। यह सूचकांक भारत की तुलना में चीन में बेहतर था और ब्राजील की तुलना में मैक्सिको में बेहतर था (सेन, 1983)। सऊदी अरब की तुलना में उरुग्वे में प्रति व्यक्ति जीडीपी बहुत कम है फिर भी वहां के लोग लंबे समय तक जीते हैं। महिलाएं अधिक साक्षर हैं। कम बच्चे ही अपरिपक्व उम्र में मरते हैं और बुनियादी राजनीतिक अधिकार और नागरिक स्वतंत्रता (जैसे मत का अधिकार और अभिव्यक्ति और संघ के गठन की स्वतंत्रता) को पूरी तरह से लागू किया गया है। रूसी संघ और कोस्टारिका के बीच का अंतर भी इसी निष्कर्ष को इंगित करता है कि रूस समृद्ध है, लेकिन इसके नागरिकों की जीवन-प्रत्याशा आयु कम है तथा वे अधिक तनावपूर्ण राजनीतिक माहौल में जीते हैं। जबकि वियतनाम की तुलना में मोरक्को का प्रति व्यक्ति सकल घरेलू उत्पाद अधिक है परन्तु इसकी निरक्षरता और शिशु मृत्यु दर बहुत अधिक है। (लीला शाहनी और सेवरिन डेनयुलिन, 2009)

अत: मूल विषय यह है- सार्वजनिक स्वास्थ्य, शिक्षा और खाद्यान्न वितरण से जुड़े मुद्दों के साथ लोगों की सेवा करने तथा जनकल्याण की सार्वजनिक नीति कैसे संचालित की जाए? यह समझना भी महत्वपूर्ण है कि समाज में कौन-सी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था उनके समर्थन के लिए मौजूद है? उदाहरण के लिए, अपने अनेक अध्ययनों में

सेन ने यह निष्कर्ष निकाला है कि चीन और श्रीलंका के मामले में, और विशेष रूप से भारत के केरल राज्य में खाद्य नीति, स्वास्थ्य और शिक्षा के क्षेत्र में बेहतर प्रदर्शन दिखाई पड़ता है। अत: प्रति व्यक्ति आय या सकल घरेलू उत्पाद की तुलना में सार्वजनिक नीति और कार्यान्वयन पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। अगर हम केवल इस बात पर ध्यान केंद्रित करते हैं कि आय कैसे वितरित की जाती है तो लिंग असमानता के मुद्दे को भी समझा नहीं जा सकता है। लिंग असमानताओं के लिए आय आधारित उपागम के सामने दो मुख्य समस्याएं हैं। पहला यह है कि अक्सर यह माना जाता है कि घरों के भीतर आय साझा की जाएगी मगर ऐसा नहीं है। दूसरा, लिंग असमानता मौजूद है क्योंकि महिलाएं ही घर के अवैतनिक काम के सबसे बड़े बोझ का वहन करती हैं और अपने वैतनिक समकक्ष पुरुष पर निर्भरता के कारण वह आर्थिक रूप से कमजोर होती हैं।

एक अन्य क्षेत्र है जहां आय विफल रहता है। यह है हाशिए पर धकेले गए दिव्यांग व्यक्ति। सेन ने दिखाया है कि दिव्यांग जो शिक्षा आवश्यकताओं से वंचित हैं, उन्हें केवल वित्तीय संसाधनों द्वारा ही समर्थन प्रदान किया जा सकता है। इसी प्रकार, समाज के कुछ जनजातीय या सीमांत वर्ग या अशिक्षित वर्ग जिन्हें आर्थिक साधनों के बजाय कई तरीकों से समर्थन देने की आवश्यकता है। इन सभी मामलों में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वंचित आबादी अधिक है और संसाधन सीमित। अत: संसाधनों को उचित तरीके से उपयोग करने की जरूरत है। अत: सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि परिस्थितियों के सापेक्ष संसाधनों की वितरण कार्यप्रणाली को निर्धारित किया जाए? इन मामलों में यह महत्वपूर्ण है कि कौन-सी सामाजिक और अन्य व्यवस्थाएं मौजूद हैं और किस प्रकार की स्वतंत्रता उन्हें प्रदान की गई है जिसके अंतर्गत अपेक्षित नीतियों को कारगर बनाया जा सकता है?

यही वह जगह है जहां आय दृष्टिकोण पर सेन की क्षमता दृष्टिकोण महत्वपूर्ण है। क्षमता, होने या कार्य करने की दक्षता है। यह व्यक्ति या समूह के द्वारा कुछ कामकाज करने की स्वतंत्रता को बतलाता है। शिक्षक या डॉक्टर बनना क्षमता नहीं है। नि:संदेह क्षमता संसाधनों, साधनों, अवसरों को चुनने की स्वतंत्रता को इंगित करती है जैसे कि, एक शिक्षक होने के नाते वह जीवन के लक्ष्य को समझता है, जिसे वह मूल्यवान मानता है। इसलिए क्षमता दृष्टिकोण में व्यक्ति ही ध्येय है और कल्याण (या खुशी) सर्वोच्च विचार है। जैसे किसी व्यक्ति को अच्छी तरह से पोषण का अवसर दिया जाता है, वह शिक्षित होता है, स्वस्थ जीवन जीता है, मधुर संबंध बनाए रखता है, जीवंत स्थान या परिवेश में काम करता है, खेलता है, समानता पूर्ण जीवन जीता है तो इसी तरह, व्यक्ति का सर्व कल्याण पूरा हो जाता है। फिर वह जो गुणवत्तापूर्ण जीवन चुनने की आजादी प्राप्त करता

है, वही क्षमता है। क्षमता दृष्टिकोण के तहत गरीबी से अभिप्राय आय या संसाधन की कमी नहीं है, बल्कि यह पर्याप्त आय या खपत के लिए आजादी या क्षमता की कमी है।

मैं दो मूल वक्तव्य देना चाहता हूँ। 4 जनवरी 1968 को रॉबर्ट एफ. केनेडी ने कहा था कि संयुक्त राज्य अमेरिका की जीएनपी (सकल राष्ट्रीय उत्पाद) दुनिया में काफी अधिक है। सिगरेट विज्ञापन, वायु प्रदूषण, जंगल का विनाश, परमाणु युद्ध का बोझ इत्यादि भी अधिक है। अतः असुरक्षा और अनिश्चितता भी अधिक है। क्या उच्च स्तर के जोखिम के साथ पृथ्वी का यह हिस्सा रहने लायक है? इस संबंध में एक और उदाहरण देखा जा सकता है। 'स्वतंत्रता के रूप में विकास' (डवलपमेंट एज फ्रीडम) में सेन ने 8वीं ईसा पूर्व के संस्कृत ग्रंथ में वर्णित चर्चा को उद्धृत किया है। एक महिला, मैत्रेयी, अपने पति से पूछती है कि 'अगर धन-धान्य से भरी-पूरी धरती उसकी हो तो क्या वह इसके माध्यम से अमरत्व प्राप्त कर सकती है। यह सुनकर कि वह इससे अमर नहीं बन सकती है, मैत्रेयी पूछती है, मुझे क्या करना चाहिए जिसके द्वारा मैं अमरत्व प्राप्त कर सकती हूँ?' (सेन, 1999, पृ. 13 पर उद्धृत)

पटना में जीवन की गुणवत्ता बनाम उच्च आय

2011-12 में बिहार के अन्य सभी जिलों की तुलना में पटना के लिए प्रति व्यक्ति सकल जिला घरेलू उत्पाद (2004-05 मूल्य) सबसे ज्यादा 63063 रुपए था। क्या हमें इस मानक से पटना के विकास का मापन करना चाहिए? क्या हमें प्रदूषण, स्वास्थ्य, अपराध, यातायात की भीड़ जैसे अन्य संकेतकों पर विचार नहीं करना चाहिए? उदाहरण के लिए, पटना वैश्विक वायु प्रदूषण सूचकांक के मुताबिक पीएम 2.5 एकाग्रता के साथ दुनिया का पांचवां सबसे प्रदूषित शहर है। [विश्व स्वास्थ्य संगठन (डब्ल्यूएचओ) द्वारा जारी रिपोर्ट के आधार पर (टीओआई, 3 मई, 2018)।] स्वास्थ्य संकेतकों को देखते हुए, पटना में तीव्र दस्त (तीव्र गैस्ट्रोएंटेरिटिस सहित) बैसिलरी डाइसेंटरी और वायरल हेपेटाइटिस बीमारी अन्य जिलों की तुलना में अपेक्षाकृत काफी अधिक थी (आर्थिक सर्वेक्षण, 2017)। पटना में कुल संज्ञेय अपराध, हत्या, डकैती, लूटपाट, सेंधमारी, चोरी, अपहरण और बलात्कार 2017 सहित पिछले कई सालों में सबसे अधिक था। (Http://biharpolice.bih.nic.in देखें)। बिहार के अन्य जिलों की तुलना में पटना में वाहनों की संख्या सड़क दुर्घटनाएं और यातायात की भीड़ सबसे ज्यादा है। पटना में झोपड़पट्टी आवास की समस्या सबसे गंभीर है। पटना शहर में समाज के सभी स्तरों के लोग आज एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने में कठनाई महसूस करते हैं। शायद प्रति व्यक्ति आय के बावजूद पटना में जीवन की गुणवत्ता राज्य में सबसे खराब है।

बिहार में जीवन संकेतकों की गुणवत्ता

जैसा कि ऊपर बताया गया है, स्टिग्लिट्ज-सेन-फिटौस्सी रिपोर्ट के अनुसार जीवन संकेतकों की गुणवत्ता के संबंध में, जीवन स्तर, स्वास्थ्य, शिक्षा, कार्य गतिविधियां, राजनीतिक आवाज़ और शासन, सामाजिक संबंध, पर्यावरण और असुरक्षा का उल्लेख किया गया है। हेलीवेल, जॉन और लेर्ड, रिचर्ड और सैस जेफरी द्वारा जारी विश्व प्रसन्नता रिपोर्ट में परिवार, धर्म और सामाजिक पूंजी के महत्व को उजागर किया गया है। भूटान का सकल प्रसन्नता सूचकांक समुदाय की जीवनशैली, पारिस्थितिकीय लचीलापन और सांस्कृतिक विविधता पर विचार करती है और लोगों के कल्याण के लिए भी यह महत्वपूर्ण है। एक नज़र 17 एसडीजी और 169 लक्ष्य जो 2030 तक हासिल किए जाएंगे, उन पर भी चर्चा करना आवश्यक है। यह गरीबी, भूख, स्वास्थ्य, शिक्षा, लिंग समानता, जल और स्वच्छता, किफायती स्वच्छ ऊर्जा, सभ्य तथा सुरुचिपूर्ण कार्य और विकास, उद्योग और आधारभूत संरचना, असमानता में कमी, स्थायित्वपूर्ण शहरों, खपत और उत्पादन, जलवायु, जलचर और भूचर जीवन, लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए शांति और साझेदारी से संबंधित है। जीवन संकेतकों की गुणवत्ता के विकास के लिए बिहार के संदर्भ को समझना महत्वपूर्ण है। किसी भी तरह के संकेतक तैयार करने के लिए राज्य के विभिन्न हितधारकों से प्राप्त विश्लेषण और बिहार के लोगों से फीडबैक लेना आवश्यक है। हालांकि, संकेतकों की तैयारी करना पहला कदम है जिसके लिए विभिन्न विषयों के विशेषज्ञों द्वारा अकादमिक अभ्यास की आवश्यकता होती है। इसे व्यवहार्य बनाने में सबसे महत्वपूर्ण कदम एक समुदाय का निर्माण करना है जो इसके लिए आवाज उठा सके और कल्याण को मापने के महत्व को राजनीतिक समुदाय के बीच स्वीकृत करा सके। एक बार जब राजनीतिक दल इसके महत्व को समझ लेंगे तो सरकार इसे नीति का एक हिस्सा बना सकती है जिसके माध्यम से इसे लागू किया जा सकता है और नियमित सर्वेक्षण के माध्यम से इसकी निगरानी की जा सकती है। बिहार में जीवन संकेतकों की गुणवत्ता के बारे में कुछ विशेष बिंदुओं पर ध्यान देना जरूरी है।

ग्रामीण जनसंख्या की उच्च क्षमता : मेरी नजर में, बिहार में उर्वर भूमि है और उर्वर भूमि पर उच्च जनसंख्या निर्भर है। बिहार में किसी भी विकास कार्यसूची के लिए, भूमि वितरण और कुशल तरीके से भूमि उपयोग पर अधिक ध्यान केंद्रित करना चाहिए। कुशल भूमि उपयोग आगे जल प्रबंधन, फसल चक्र और मिट्टी की उर्वरता को संरक्षित करने पर निर्भर करता है। किसान की आय फसल उत्पादन की अधिक लागत और कम मूल्य पर बिक्री से बुरी तरह प्रभावित होती है और इसलिए किसानों के कल्याण को

निर्धारित करने के लिए न्यूनतम समर्थन मूल्य के साथ खरीद को ध्यान में रखा जाना चाहिए। इसके अलावा, श्रमिक वर्ग की मजदूरी, रोजगार, खपत और कार्य की दशाओं को उनके कल्याण का मानदण्ड माना जाना चाहिए। ग्रामीण इलाके का निकटतम शहर से संपर्क, ऊर्जा उपलब्धता और वहनीयता, सामर्थ्य, पेयजल, स्वच्छता और अस्पताल तक पहुंच भी महत्वपूर्ण है। अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अल्पसंख्यक, विकलांग, ट्रांसजेंडर, महिलाओं को विशेष रूप से भोजन, शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास, ऊर्जा की उपलब्धता के मानकों पर देखना चाहिए। ग्रामीण समस्याओं को हल करने में पंचायती राज संस्थानों की प्रभावशीलता पर विचार किया जाना चाहिए।

शहरी लोगों की उच्च क्षमता : शहरी क्षेत्र में स्वच्छ पेयजल, स्वच्छता, आवास, कार्य परिस्थितियों और परिवहन सुविधाओं की गंभीर समस्या है। शहर की एक बड़ी आबादी हाशिये पर रहती है और नौकरी की असुरक्षा, स्वास्थ्य संबंधी खतरे, स्कूली शिक्षा की खराब गुणवत्ता से पीड़ित है। फिर उच्च प्रदूषण का स्तर, यातायात, भीड़ और सीमित संसाधनों पर प्रवासी आबादी का अत्यधिक उच्च दबाव शहरों के बुनियादी ढांचे को बुरी तरह प्रभावित करते हैं। अपराध और कानून व्यवस्था की स्थिति गंभीर है जो अमीर और गरीब वर्ग के जीवन को असुरक्षित बनाती है। कम मजदूरी और गंभीर परिस्थितियों में रहने वाले लोगों के जीवन स्तर में सुधार करने के लक्ष्यों और उनके कार्यक्रमों की निगरानी की आवश्यकता है। लोगों के लिए पर्याप्त हरे-भरे मैदान, पार्क, खेल की सुविध ाएं और मनोरंजन के साधनों की व्यवस्था होनी चाहिए।

सांस्कृतिक और नैतिक क्षेत्र में उच्च क्षमता : बिहार में समृद्ध सांस्कृतिक परंपरा है जो त्योहारों, अनुष्ठानों, जन्म और विवाह समारोहों में प्रकट होती है। विभिन्न समुदाय अपने साथ सांस्कृतिक उत्सवों के माध्यम से एक साथ रहते हैं और अपनी पहचान बनाए रखते हैं। यह महत्वपूर्ण है क्योंकि यह जीने का इरादा रखने के अवसर प्रदान करते हैं। हालांकि, कभी-कभी निहित हितों के कारण कुछ असामाजिक तत्व असहिष्णुता और षड़यंत्र से समाज में विभाजन पैदा करते हैं। नतीजतन दंगे, संघर्ष, हत्या और लूट के आपराधिक कृत्य होते हैं। कुछ अल्पसंख्यक समुदायों को इनका सामना करना पड़ता है। किसी भी राज्य के लिए समाज के विभिन्न वर्गों के सांस्कृतिक विरासत को बनाए रखना महत्वपूर्ण है। भ्रष्टाचार एक और बुराई है जो सभी लोगों को प्रभावित करती है। जहां भ्रष्टाचार अधिक है वहां उसके खिलाफ एक अभियान चलाया जाना चाहिए और ईमानदारी को सर्वोच्च नैतिक गुण के रूप में पुरस्कृत किया जाना चाहिए। संस्थान में

पारदर्शिता को बढ़ावा दिया जाना चाहिए जिससे भ्रष्टाचार को कम किया जा सके। सत्ता और सामाजिक स्थिति के भेदभाव के बिना सभी को उचित न्याय मिलना चाहिए।

राज्य में लोगों की क्षमता बढ़ाने के लिए ये कुछ प्रासंगिक विचार हैं। अधिक से अधिक अंतर-अनुशासनिक शोध और फीडबैक द्वारा संकेतकों को वर्गीकृत करने और लोगों की उच्च क्षमता के संदर्भ में प्रगति का आकलन करने के महत्व को उचित स्थान प्रदान करने में मदद मिलेगी। एक अच्छा सर्वेक्षण और क्षमता प्राप्त करने के लिए रणनीतियों को विकास दर मापन का एकल आयामी मानदंड की अपेक्षा अच्छी तरह से लोगों का विकास कर सकती है। मेरी राय में, कोई भी नीति जो लोगों के कल्याण की दिशा में आगे बढ़ती है, वही राज्य की प्रगति का सुनिश्चित मार्ग है। अत: यह आवश्यक है कि अर्थशास्त्र के क्षेत्र में कार्यरत शोधकर्ता और शिक्षक समुदाय अपनी क्षमता का उपयोग करके राज्य के लोगों के कल्याण के कार्यों का नेतृत्व करें, यानी वे जो मूल्यवान जीवन चुनते हैं, उस क्षमता के होने या करने की दक्षता का भरपूर उपयोग करें। यही हमारी दक्षता के सही मापन का एक अवसर है।

संदर्भ

सेंटर फॉर भूटान स्टडीज एंड जी.एन.एच रिसर्च, 2016, ए कम्पास टुवर्ड्स ए जस्ट एंड हार्मोनियस सोसाइटी 2015 जी.एन.एच सर्वे, 2016 http://www.grossnationalhappiness.com/ पर उपलब्ध है।

ईस्टरलीन रिचर्ड, 2001, इनकम एंड हैप्पीनेस: टुवर्ड्स ए यूनिफाइड थ्योरी, इकनोमिक जर्नल, जुलाई 2001, पृ. 465-84

ईस्टरलीन रिचर्ड, 2013, हैप्पीनेस, ग्रोथ, एंड पब्लिक पालिसी आई.जेड.ए. डीपी सं 7234 फरवरी 2013 http://repec.iza.org/dp7234.pdf पर उपलब्ध है।

गवर्नमेंट ऑफ बिहार, 2018, इकनोमिक सर्वे, 2017-18, ऑनलाइन उपलब्ध http://finance.bih.nic.in/Reports/ Economic/Survey/2018/EN.pdf

हेलिवेल, जॉन और लॉयड, रिचर्ड एंड सैस, जफरी (संपा.) (2012) वर्ल्ड हैप्पीनेस रिपोर्ट। द अर्थ इंस्टिट्यूट, कोलंबिया यूनिवर्सिटी, न्यूयॉर्क, यूएसए। यह संस्करण यहां उपलब्ध है: http://eprints.lse.ac.uk/47487/

सेन, अमर्त्य, 2000, डेवलपमेंट एज फ्रीडम, ओयूपी, ऑक्सफोर्ड, 2000

सेन, अमर्त्य 1985. *'कमोडिटीज एंड कैपेबीलिटिस'* ऑक्सफोर्ड: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

सेवरराइन डेन्यूलीन विद लीला शाहनी (संपा.), 2009 एन इंट्रोडक्शन टू द ह्यूमन

डेवलपमेंट एंड कैपब्लिटी एप्रोच फ्रीडम एंड एजेंसी, अर्थस्कैन, लंदन, 2009

स्टिगलिट्ज़ जोसेफ ई., सेन अमर्त्य और फिटौस्सी जीन - पॉल, 2011, मिस-मेजरिंग आवर लाइव्स : ह्वाई जीडीपी डज नॉट ऐड अप, बुकवेल पब्लिकेशनस, नई दिल्ली, 2011

परिप्रेक्ष्य
वर्ष 25, अंक 2, अगस्त 2018

निजी ट्यूशन के सामाजिक-मनोवैज्ञानिक संदर्भ
भारतीय अनुभव

तपन आर. मोहंती*

सारांश

भारतीय शिक्षा प्रणाली में सर्व व्यापकता के बावजूद निजी शिक्षण के मुद्दे पर अपेक्षित ध्यान नहीं दिया गया है। इस संबंध में जो कुछ प्रयास किए गए हैं वे पूरक शिक्षण की सामान्य प्रवृत्ति और छात्रों के शैक्षिक प्रदर्शन पर इसके प्रभाव पर ही काफी हद तक केंद्रित हैं। हालांकि, माध्यमिक स्तर पर छात्रों पर निजी शिक्षण के प्रभाव के संबंध में उपलब्ध साहित्य, गुणवत्ता और संख्या की दृष्टि से लगभग नगण्य है। देशभर में निजी ट्यूशन प्रदान करने वाले संस्थानों और इनमें दाखिला लेने वाले विद्यार्थियों की संख्या तेजी से बढ़ रही है और इस क्षेत्र से संबंधित अध्ययन और साहित्य का न होना बेहद विरोधाभासी है। माध्यमिक शिक्षा के स्तर पर इस परिघटना की संख्या और त्वरित विस्तार का विशेष रूप से एक सामाजिक-मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में व्यवस्थित और व्यापक अध्ययन की आवश्यकता है, क्योंकि सीखने की आवश्यकता और मांग सामूहिक चेतना का एक उत्पाद है। यह अध्ययन विशेष रूप से माध्यमिक शिक्षा के स्तर पर बहुत प्रासंगिक है क्योंकि यह उच्च, तकनीकी और व्यावसायिक शिक्षा का प्रवेश बिंदु है। बढ़ती वैश्वीकरण और अत्यधिक प्रतिस्पर्धी पेशेवर शिक्षा की मांग के साथ, निजी शिक्षण और कोचिंग संस्थानों की हिस्सेदारी कई गुना बढ़ी है। इस संदर्भ में, निजी शिक्षण के परिप्रेक्ष्य का विषयगत और सैद्धांतिक दृष्टि से अध्ययन करने का प्रयास किया गया है ताकि भारत में निजी शिक्षण की गतिशीलता और इसकी सामाजिक-मनोवैज्ञानिक स्पष्टीकरण का गहन पड़ताल किया जा सके।

---

*सामाजिक-वैधानिक अध्ययन केंद्र, राष्ट्रीय विधि संस्थान विश्वविद्यालय, भोपाल, मध्य प्रदेश

परिचय

निजी शिक्षण की परिघटना सामान्य रूप से शिक्षा और विशेष रूप से शिक्षण–अधिगम प्रक्रिया से जुड़ी असंख्य जटिलताओं में से एक है। पिछले दिनों, शिक्षा के इस पहलू पर विशेष रूप से एशियाई देशों में (फोंडुन 1992; अग्रवाल 1997; बे 1999, 2003, 2009, 2010; बे और चाड 2012, सेन 2004; सुजाता 2006, 2012; जयचंद्रन 2014 अनेक अध्ययन किये गए हैं)। यह वास्तव में दुनियाभर और विशेषकर, भारत और अन्य एशियाई देशों के मामले में पिछले कुछ दशकों में एक प्रणाली और संस्कृति, दोनों के रूप में निजी शिक्षण के विकास को देखने के लिए एक आकर्षक अनुभव रहा है। इस प्रणाली की सर्वव्यापी और प्रभावशाली उपस्थिति बहुत आकर्षक और दिलचस्प, दोनों ही है, और गंभीर अकादमिक अध्ययन के योग्य है। इस संदर्भ में भारत में निजी शिक्षण के मुद्दे को गंभीरता से और व्यवस्थित रूप से देखने के लिए एक प्रयास किया गया है।

निजी शिक्षण को निजी अनुपूरक शिक्षण (बे 2003) के रूप में भी जाना जाता है और कुछ पर्यवेक्षकों को इसे ''छाया शिक्षा प्रणाली'' (बे 1999) के रूप में भी माना जाता है। निजी शिक्षण आमतौर पर स्कूली समय से अलग छात्र द्वारा किए गए अतिरिक्त शिक्षण–अधिगम गतिविधियों के रूप में परिभाषित किया जाता है। पूरक, निजी और अकादमिक विषयों की शर्तों का उपयोग करते हुए, बे ने अवधारणा की परिभाषा को एक रूपरेखा दी है। उन्होंने आगे कहा कि यह निजी उद्यमियों और व्यक्तियों द्वारा मुनाफा कमाने के उद्देश्यों के लिए प्रदान किए गए शिक्षण सीमित है (वही 20)। अपने बाद के प्रकाशन में, उन्होंने समझाया है कि निजी अनुपूरक शिक्षण ''अकादमिक विषयों (जैसे भाषाएं और गणित) में शिक्षण और वित्तीय लाभ के लिए ट्यूटर द्वारा प्रदान किया जाता है, और मुख्यधारा के स्कूली शिक्षा के प्रावधान के अतिरिक्त समय के दौरान प्रदान किया जाता है'' (बे 2003: 13)। हालांकि, यह उल्लेख किया जाना आवश्यक है कि निजी अनुपूरक शिक्षण, वह निजी शिक्षण नहीं है जो मध्यकाल के कुलीन परिवारों में शिक्षण–अधिगम प्रक्रिया का एक अच्छा–खासा भाग था, जो 19वीं शताब्दी की शुरुआत तक अच्छी तरह से प्रचलित था।

निजी शिक्षण की परिघटना, हालांकि, न तो नया है और न ही किसी विशेष देश के लिए विशिष्ट है। 19वीं शताब्दी के प्रकाशनों में इसका उल्लेख दिलचस्प रूप से मौजूद है। व्हीवेल लिखते हैं– ''निजी शिक्षण के प्रति आपत्तियां यह है कि यह बौद्धिक निर्भरता और सतही ज्ञान उत्पन्न करता है, और यह सार्वजनिक शिक्षण में हस्तक्षेप

करता है'' (1837)। रसेल के अनुसार (2002: 10), ''लंदन और अन्य बड़े शहरों में, निजी शिक्षण तेजी से बढ़ रहा है। यह बच्चे के स्कूल प्रदर्शन में सबसे महत्वपूर्ण कारक और अज्ञापित कारक बन गया है''। इसी प्रकार, पूर्वी एशिया के कुछ हिस्से, विशेष रूप से जापान, कोरिया गणराज्य और ताइवान में निजी अनुपूरक शिक्षण लंबे समय से एक प्रमुख परिघटना रहा है। रूस में ''बढ़ती कीमतों के साथ कोचिंग के काला बाजार का विकास, एक ऐसी घटना है जो घृणास्पद और हमारे समाज के नैतिक सिद्धांतों के साथ असंगत है'' (पोंट्रियागैन 1980)। हाल के दशकों में, औद्योगिक और कम विकसित समाज, दोनों में उल्लेखनीय रूप से इसका विस्तार हुआ है। मिस्र, भारत, माल्टा और रोमानिया जैसे विविध देशों में, एक तिहाई से अधिक विद्यार्थियों को नियमित रूप से निजी पूरक शिक्षण प्राप्त होता है और कुछ समाजों में इसका अनुपात काफी अधिक है। दरअसल कुछ देशों में, ट्यूशन लगभग सार्वभौमिक रूप से व्यापक परिघटना बन गया है (बे 2003)।

भारत में निजी शिक्षण

भारत में निजी शिक्षण व्यापक रूप से प्रचलित है, हालांकि निजी शिक्षण पर अध्ययन लगभग नगण्य हैं। भारत समेत विकासशील देशों के संदर्भ में, अक्सर यह माना जाता है कि निजी शिक्षण आपूर्ति-संचालित मांग और मांग-संचालित आपूर्ति, दोनों का परिणाम है। स्कूलों में अपर्याप्त निगरानी वाले शिक्षण में आय-उत्पादन के उद्देश्य से निजी शिक्षण की मांग बढ़ाने के लिए शिक्षक कक्षा में खराब तरीके से पढ़ाते हैं। (बिस्वाल 1999) निजी शिक्षण, शिक्षा के निचले स्तरों पर भी प्रदर्शन बढ़ाता है। (अग्रवाल 1998) स्कूल स्तर के विश्लेषण के संदर्भ में, यह देखा गया कि प्राथमिक विद्यालयों में निजी शिक्षण का एक व्यापक अभ्यास प्राथमिक स्तर पर शिक्षा प्रणाली की अक्षमता को मजबूत करता है। आर्थिक और सामाजिक रूप से वंचित और पिछड़े वर्ग के बच्चे इस व्यवस्था से सबसे अधिक पीड़ित हैं (सेन 2001)।

हालांकि इनमें से कोई भी अध्ययन माध्यमिक स्तर पर निजी ट्यूशन पर विशेष रूप से केंद्रित नहीं है, जबकि आंकड़ों से पता चलता है कि अधिकतम संख्या में माध्यमिक स्तर के छात्र निजी शिक्षण प्राप्त करते हैं। भारत में निजी शिक्षण, शिक्षा के उन स्तरों पर प्रचलित है जहां सार्वजनिक परीक्षाएं होती है या जो उच्चतर और तकनीकी शिक्षा का एक संक्रमण चरण है। यह चरण माध्यमिक शिक्षा है। इन व्यापक दृष्टिकोणों को ध्यान में रखते हुए, वर्तमान लेख की कल्पना की गई थी। सैद्धांतिक आधारों को

साधने के लिए, भोपाल में निजी शिक्षण की प्रकृति की जांच के लिए एक छोटा लेकिन महत्वपूर्ण अनुभवजन्य हस्तक्षेप किया गया था। नतीजतन, भोपाल शहर में निजी शिक्षण प्रदान करने वाले दस कोचिंग संस्थानों का एक छोटा-सा सर्वेक्षण आयोजित किया गया था। इसके अलावा, ट्यूशन-जाने वाले 200 छात्रों के औपचारिक और अनौपचारिक दोनों, प्रकार से साक्षात्कार किए गए थे ताकि प्रतिभागियों के बीच निजी शिक्षण की गतिशीलता की जांच की जा सके।

दीर्घकालिक, टिकाऊ और महत्वपूर्ण अनुभवजन्य साक्ष्य की अनुपस्थिति में, निजी शिक्षण के संबंध में बहुत सामान्य निष्कर्ष और धारणाएं मौजूद हैं। इसके अलावा, तकनीकी शिक्षा के लिए छात्रों को तैयार करने के उद्देश्य से पेशेवर कोचिंग सेंटरों का उदय हुआ है (कोटा, पुणे इत्यादि में कोचिंग सेंटर) और बैंकिंग और सार्वजनिक सेवा आयोगों सहित सरकारी नौकरियों की तैयारी के लिए बड़ी संख्या में कोचिंग सेंटरों की दुकानें खुली हैं। तथ्य यह है कि यह एक इसके अस्तित्व की वास्तविकता है और इसलिए इसकी गंभीरता से जांच की आवश्यकता है। इस आलेख में, एक सामाजिक-मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से निजी शिक्षण के बारे में परिप्रेक्ष्य प्रदान करने के लिए सीमित अनुभवजन्य आंकड़ों के साथ सिद्धांत को सहयोजित करने का प्रयास किया गया है।

सैद्धांतिक विवेचना

प्राय: यह सवाल अनुत्तरित रहता है कि छात्र निजी शिक्षण का विकल्प क्यों चुनते हैं और फिर समाज पर इसका क्या प्रभाव पड़ता है? इसकी गंभीर समीक्षा करने की आवश्यकता है, वर्तमान आलेख इन मुद्दों को उजागर करने का इरादा रखता है और इन मुद्दों को सही संदर्भ में रखकर संभाव्य उत्तर प्राप्त करने का प्रयास करता है। इन महत्वपूर्ण आयामों की जांच करने के लिए, सामाजिक-मनोवैज्ञानिक कारणों पर जोर दिया गया है। सामाजिक मनोविज्ञान की भूलभुलैया को आड़ा तिरछा करने के बजाए दृष्टिकोण को विशिष्ट सिद्धांतों और उनके अनुप्रयोगों तक सीमित किया गया है। इस अध्ययन में सैद्धांतिक प्रतिमान सोवियत मनोवैज्ञानिक लेव विगोत्स्की और अमेरिकी सामाजिक मनोवैज्ञानिक जॉर्ज हर्बर्ट मीड के अधिगम के सिद्धांत को आधार बनाया गया है। इसमें मुख्य रूप से सीखने की प्राथमिकताओं को निर्धारित करने में समाज और समुदाय की व्यापक भूमिका की जांच करते हुए सामाजिक-मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य से सीखने के संदर्भ को समझाया गया है। यह दृढ़ विश्वास से उत्पन्न होता है कि विशेष रूप से सीखने के माहौल के संदर्भ में सामान्य और वयस्क मनोविज्ञान को समझने के लिए, इन सिद्धांतों

का एक अतिरिक्त लाभ होता है क्योंकि वे शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया में सामाजिक-सांस्कृतिक वातावरण के महत्व को रेखांकित करते हैं।

सोवियत मनोवैज्ञानिक, लेव विगोत्स्की (1896-1934) के कार्य और उनके सिद्धांतों को विशेष रूप से शिक्षा मनोविज्ञान में व्यापक महत्व मिला है। सामान्य रूप से सोवियत मनोविज्ञान की आधारशिला और विशेष रूप से विगोत्सकी का योगदान- ''गतिविधि का सिद्धांत'' है। पर्यवेक्षकों के मुताबिक, 1920 से 1950 तक अमेरिकी अध्ययनों में व्यवहार की अवधारणा और 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध (कोजुलिन 1986) में यूरोपीय मनोविज्ञान में चेतना की अवधारणा के रूप में गतिविधि की अवधारणा की एक महत्वपूर्ण और व्यापक भूमिका है। यह स्पष्ट रूप से उन गतिविधियों को समझने में गतिविधि सिद्धांत का उपयोग करने के महत्व को रेखांकित करता है जो छात्रों को निजी शिक्षण और कोचिंग सेंटर में दाखिला लेने के लिए प्रेरित करते हैं।

गतिविधि की समस्या का विगोत्सकी के लेख ''व्यवहार की समस्या के रूप में चेतना'' (1979) में उल्लेख किया गया है। विगोत्सकी ने मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया को व्यवहारवाद तक सीमांकन का प्रतिवाद करते हुए कई संशोधनों के साथ मनोवैज्ञानिक सिद्धांत में चेतना को पुनः स्थापित किया। मानव क्रिया के मनोवैज्ञानिक स्पष्टीकरण की त्रयी के रूप में ऐतिहासिकता, सामाजिक चरित्र और ''दोहरी प्रकृति'' को रेखांकित करते हुए, विगोत्सकी ने गतिविधि के अपने सिद्धांत को व्यक्त किया है। दूसरों के साथ संबंधों के माध्यम से बाह्य प्रभाव से चेतना के निर्माण को व्याख्यायित करते हुए विगोत्सकी ने बताया कि *''सामाजिक व्यवहार तंत्र और चेतना तंत्र, दोनों ही समान हैं। हम स्वयं से अवगत हैं, क्योंकि हम दूसरों के बारे में जानते हैं, और उसी तरह हम दूसरों को जानते हैं; और ऐसा इसलिए है क्योंकि हम खुद के संबंध में वैसे ही (स्थिति) हैं क्योंकि अन्य हमारे बारे में जानते हैं और हमसे संबंधित हैं* (विगोत्सकी 1979, पृ. 29-30)।

विगोत्स्की की अवधारणा, मार्क्स और हेगेल के साथ-साथ गेस्टल्ट मनोविज्ञान की शोध परंपराओं से प्रभावित थी। विगोत्सकी ने हेगेल से मानव विकास के चरणों और मानव चेतना के रूपों के निर्माण का पूर्णतः ऐतिहासिक दृष्टिकोण लिया। मार्क्स ने मानव आचरण की अवधारणा पर बल दिया जो एक ठोस ऐतिहासिक गतिविधि है और चेतना की परिघटना का कारक है।

विगोत्सकी के अनुसार, मानव गतिविधि को कारगर बनाने के लिए मनोवैज्ञानिक उपकरण और पारस्परिक संप्रेषण के साधन के रूप में ऐसे मध्यस्थों की आवश्यकता है।

मनोवैज्ञानिक उपकरण प्राकृतिक और संज्ञानात्मक प्रक्रियाओं में महारत हासिल करने में व्यक्ति की सहायता करते हैं। विगोत्सकी ने मनोवैज्ञानिक विकास को उथल-पुथल, अचानक परिवर्तन और उलट क्रिया से भरा एक गतिशील प्रक्रिया के रूप में माना है,। हालांकि, यह प्रक्रिया अंतत: सांस्कृतिक और उच्च मानसिक कार्यों के गठन की ओर ले जाती है। इस गठन की गतिशीलता का अध्ययन और इसके व्यवहारिक उद्देश्य विगोत्सकी के विकास कार्यक्रम के प्रमुख लक्ष्य बन गए।

दूसरी तरफ, जॉर्ज हर्बर्ट मीड दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर थे और उनके विचार कक्षा में दिए गए व्याख्यानों के आधार पर मरणोपरांत प्रकाशित हुए थे। मीड की प्रमुख चिंता सामाजीकरण और व्यक्तित्व विकास की प्रक्रिया को समझाना था। मीड के मुताबिक, एक बच्चा समाज के मानदंडों को अंतस्थत: ग्रहण करता है और साथ ही साथ दूसरों के साथ अनुक्रिया और अवलोकन के माध्यम से अपने स्वयं के दृष्टिकोण भी निर्मित करता है। उनके सामाजीकरण के सिद्धांत में विषय ''सरलीकृत अन्य'' की श्रेणी से ''महत्वपूर्ण अन्य'' की ओर अग्रसित होता है, या दूसरे शब्दों में, सामान्य से विशिष्ट के चयन की पसंद में रूपांतरण होता है। बाद में, सी.एच. कूले (1902) ने इस अवधारणा को ''दर्पण का सिद्धांत'' के रूप में उपयोग किया, जिसमें हम अपनी छवि को सहज और चेतना की आंतरिक गतिशीलता की प्रक्रिया के माध्यम से नहीं देखते हैं, बल्कि समाज द्वारा प्रदान किए गए प्रतिबिंब से - दूसरों को हम कैसे देखें और हम दूसरों द्वारा कैसे महसूस करना चाहते हैं। मीड के अनुसार, ''जैसा कि हम देखेंगे, वही प्रक्रिया जो उत्पत्ति और मन या चेतना के अस्तित्व के लिए ज़िम्मेदार है- अर्थात् किसी के स्वयं के प्रति या दूसरे के व्यवहार के प्रति दृष्टिकोण निर्मित करना उत्पत्ति और एक ही समय में अस्तित्व, महत्वपूर्ण प्रतीक, या महत्वपूर्ण संकेत का समावेशन जरूरी है।'' (मीड 1974 पृ. 47-48)।

प्रस्तुत आलेख में इन सैद्धांतिक परिदृश्यों के आधार पर, भारत में निजी शिक्षण की गतिशीलता और मनोवैज्ञानिक स्पष्टीकरण को बताने का प्रयास किया गया है। हालांकि, भारत में निजी शिक्षण का सामान्य विवेचन प्रदान करना सर्वाधिक रूप से उचित है।

भारत में निजी शिक्षण : रुझान और दृष्टिकोण

निजी शिक्षण व्यवस्था काफी लंबे समय से भारत में अस्तित्व में रही है, लेकिन हाल के दिनों में, यह कई गुना बढ़ गयी है, जो शिक्षा प्रणाली के बहुत ही मूलभूत स्वरूप को प्रभावित करता है। पिछले तीन दशकों के दौरान, समाज के बदलते स्वरूप और चरित्र के

अनुरूप निजी शिक्षण के परिदृश्य में व्यापक परिवर्तन आया है। इससे पहले, बोर्ड परीक्षा की कक्षाओं के छात्रों ने ही निजी शिक्षण प्राप्त करने के बारे में सोचा था, लेकिन आजकल, बच्चे कक्षा 1 से सीधे ट्यूशन शुरू करते हैं। अधिगम संबंधी निम्न स्तर के संकेतक के रूप में माने जाने के बजाय, अब यह केवल आवश्यकता के मामले के रूप में नहीं बल्कि गर्व और सामाजिक प्रतिष्ठा के एक प्रतीक एक के रूप में भी माना जाता है। कमजोर छात्रों की आवश्यकता अब सभी छात्रों की सार्वभौमिक आवश्यकता बन गई है- कमजोर, औसत और उज्ज्वल -क्योंकि प्रत्येक छात्र परीक्षा में अपना स्कोर सुधारने के इच्छुक है। भारत में प्राथमिक शिक्षा सार्वभौमीकरण को प्राप्त करने से अभी भी दूर हो सकती है, लेकिन निजी शिक्षण शहरी और ग्रामीण इलाकों में, विशेष रूप से मध्यम वर्ग के बीच सार्वभौमिकता के निकट पहुंच गया है।

निजी ट्यूशन को सामाजिक वर्जना से व्यापक रूप से शिक्षण-अधिगम व्यवहार और स्वीकृत वास्तविकता में बदलने के लिए बाजार जिम्मेदार है। अकादमिक सीढ़ी के उच्च स्तर पर उपलब्ध उम्मीदवारों और सीमित रिक्त स्थानों के बीच विसंगति ने प्रतिस्पर्धा की भावना को बढ़ा दिया है। माता-पिता अपने बच्चों के निजी शिक्षण पर अतिरिक्त व्यय करते हैं और इससे उन्हें उम्मीद है कि इससे उन्हें भविष्य में उच्च लाभ मिलेगा (तनसेल और फातमा 2004; सफीक 2002)। कुछ मामलों में, शिक्षण की आवश्यकता नहीं है, फिर भी छात्रों और उनके माता-पिता की सुनियोजित व्यवस्था के तहत परीक्षा की चुनौती को पूरा करने के लिए वे अपनी पूरी कोशिश कर रहे हैं।

अत: इस स्थिति का और स्पष्टीकरण आवश्यक है। यह स्पष्ट करना जरूरी है कि क्यों अधिक से अधिक छात्र निजी शिक्षण की मांग कर रहे हैं और इस वैकल्पिक प्रणाली से सहायता लेने के लिए उनके निर्णय के कारण क्या हैं। अध्ययन में इसके बारे में छात्रों से प्रश्न पूछकर जांच की गई और फिर जवाब की पड़ताल के लिए सामग्री का विश्लेषण किया गया। इस मुद्दे पर निम्नलिखित अनुच्छेदों में चर्चा की गई है।

निजी शिक्षण का मुख्य उद्देश्य, नियोजित तरीके से पाठ्यक्रम के समापन पर, परीक्षा की तैयारी के लिए प्रत्येक इकाई के संशोधन और छात्रों को महत्वपूर्ण प्रश्न और उत्तर अभ्यास के माध्यम से सार्वजनिक परीक्षाओं के लिए तैयार करना है। इसमें इसी बात पर जोर दिया जाता है। निजी शिक्षण प्राप्त करने का सबसे महत्वपूर्ण कारण सार्वजनिक परीक्षाओं की तैयारी है। मुख्यधारा की शिक्षा प्रणाली की प्रकृति, सार्वजनिक प्रणाली के साथ असंगता, यानी, मुख्यधारा की स्कूली शिक्षा, प्रतिस्पर्धी शैक्षणिक संस्कृति,

बच्चों को अधिक गहन और अग्रिम शिक्षण तक पहुंच प्रदान करना, माता–पिता की शैक्षणिक स्तर और समर्थन की कमी, माता–पिता की क्षमता और निजी शिक्षण से अधिक उम्मीदें आदि कुछ अन्य महत्वपूर्ण कारण हैं। महत्वाकांक्षा, चिंता, भय, स्कूली शिक्षा प्रणाली में अविश्वास, असुरक्षा और अनिश्चितता की भावना आदि सभी छात्रों के मन–मस्तिष्क में व्याप्त होते हैं जो उन्हें निजी शिक्षण की ओर ले जाते हैं।

यह हमेशा ट्यूशन के माध्यम से उच्च उपलब्धि की उम्मीद करने की बात नहीं है बल्कि वास्तव में भुगतान करने की तत्परता भी है जो छात्रों को ट्यूशन लेने के लिए प्रेरित करती है, खासकर अच्छे कोचिंग सेंटर या विशेषज्ञ ट्यूटर्स द्वारा घर में ट्यूशन की व्यवस्था के रूप में। यह इस तथ्य में परिलक्षित होता है कि कोचिंग सेंटर में शिक्षण प्राप्त करने वाले अधिकांश छात्र मध्यम और उच्च सामाजिक–आर्थिक वर्ग से आते हैं। जिनका अकादमिक प्रदर्शन पहले से ही अच्छा होता है, बड़ी संख्या में ऐसे छात्र–छात्राएँ पूरे वर्ष ट्यूशन प्राप्त करती हैं। माता–पिता के दृष्टिकोण से, विशेष रूप से उच्च वर्ग के समाज में निजी शिक्षण सुरक्षा और सामाजिक पहचान का विषय बन गया है। माता–पिता के अपर्याप्त शैक्षणिक समर्थन के कारण, निजी ट्यूशन माता–पिता को अपने बच्चों की शैक्षणिक सफलता के बारे में अधिक सुरक्षित महसूस कराता है। वे अपने बच्चों को इस आशंका से बचाव के लिए भी निजी शिक्षण में दाखिला कराते हैं कि उनका बच्चा किसी असामाजिक गतिविधियों की ओर नहीं जाएगा और इससे वे बच्चों के प्रति आश्वस्त हो जाते हैं। निजी ट्यूशन सामाजिक तुलना की प्रक्रिया के माध्यम से माता–पिता की आत्म–अवधारणा और सामाजिक पहचान को भी बढ़ाता है।

निजी शिक्षण की अधिक विशिष्ट व्याख्या के लिए, छात्रों को यह कारण बताने के लिए कहा गया कि वे निजी शिक्षण के लिए क्यों जाते हैं। उत्तरदाताओं से प्राप्त सुझावों छात्रों को निजी ट्यूशन प्राप्त करने के निम्नलिखित महत्वपूर्ण कारण हैं: उन्हें स्कूल में पढ़ाए गए पाठ ठीक से समझ में नहीं आता; उनके शिक्षक उन्हें स्कूल में अच्छी तरह से पढ़ाते नहीं हैं; उन्हें और अधिक समझ तथा अधिगम की जरूरत है; उन्हें परीक्षा में खराब अंक मिल रहे हैं; वे परीक्षा में और अधिक अंक प्राप्त करना चाहते हैं; वे ट्यूशन में जाकर और अधिक ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं; और ट्यूशन के लिए माता–पिता के निर्णय और दोस्तों की सलाह भी प्रमुख कारक हैं। अनुलग्नक में प्रस्तुत (तालिका–1) में वास्तविक चित्र दर्शाया गया है।

विद्यार्थियों के प्रत्युत्तरों से पता चलता है कि परीक्षा में अधिक अंक प्राप्त करने के लिए छात्रों को निजी शिक्षण प्राप्त करना होता है (14.13 प्रतिशत), उन्हें अधिक समझ तथा ज्ञान की आवश्यकता है (17.74 प्रतिशत) और वे अधिक सीखना चाहते हैं (12.44 प्रतिशत)। छात्रों का एक बड़ा समूह यानि, 11.87 प्रतिशत छात्रों ने कहा कि शिक्षक स्कूल में अच्छी तरह से पढ़ाते नहीं हैं, जो वास्तव में तेजी से निजीकृत शिक्षा प्रणाली के तहत औपचारिक स्कूली शिक्षा प्रणाली पर एक गंभीर आरोप के रूप में उभर रहा है, जबकि केवल 8.41 प्रतिशत छात्रों ने जवाब दिया कि वे स्कूल में पढाए गए पाठ ठीक से नहीं समझते हैं। माता-पिता के फैसले के कारण ट्यूशन जाने वाले छात्रों का प्रतिशत 8. 18 प्रतिशत है जो निजी शिक्षण (ट्यूशन) सुविधा का लाभ उठाते हैं। अध्ययन में आगे पता चला कि अधिकांश छात्रों का मानना है कि कोचिंग संस्थानों में निजी शिक्षण बहुत अच्छा है और किसी के भविष्य को उचित तरीके से आकार देने में बहुत मददगार और उपयोगी है; क्योंकि छात्रों को नए परीक्षा पैटर्न के अनुसार तैयार करवाया जाता है और पढ़ाया जाता है; और वे नई प्रवृत्तियों को जानते हैं और परीक्षा में क्या पूछा जा सकता है उसके बारे में बताते हैं तथा उसकी तैयारी करवाते हैं। इन संस्थानों में छात्रों को विशेष परीक्षाओं के लिए तैयार करवाने का सही तरीका अपनाया जाता है और इसलिए, वे किसी विशेष विषय की तैयारी के लिए आवश्यक तथा उपयुक्त प्रयास करते हैं। वे अलग-अलग विषयों के अधिगम को अनुकूलित करने के लिए अध्ययन का उपयुक्त तरीका प्रदान करके छात्रों की सहायता करते हैं।

इससे पता चलता है कि निजी शिक्षण में जाने के अधिकांश कारण छात्रों की उन परीक्षाओं की तैयारी के लिए निर्देशित होते हैं जिसमें वे अधिक अंक प्राप्त करना चाहते हैं। लेकिन फिर भी मेरी समझ से यह सामान्यत: परीक्षा और विशेषत: तकनीकी और पेशेवर परीक्षा के दृष्टिकोण से मुख्यत: एक सामाजिक प्रचलन है। वास्तव में, सीखने के परिवेश के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि शिक्षा की पूरी अवधारणा पर छात्र का दृष्टिकोण, सीखने की उनकी अपेक्षाओं और शिक्षा की चुनौतियों यानी परीक्षा की तैयारी के तरीके दोनों ही सामाजिक स्थितियों और एक सांस्कृतिक संदर्भ में प्राप्त अनुभवों द्वारा तय किये जाते हैं। वास्तव में, यह छात्रों के व्यक्तित्व का विकास करता है, और विगोत्सकी के संदर्भ में यह उनमें इसकी आवश्यकता पैदा करता है और उन्हें इसके अभ्यास और कार्यव्यवहार के लिए प्रेरित करता है। सामाजिक संबंध या लोगों के बीच परस्पर संबंध आनुवांशिक रूप से सभी उच्च कार्यों और उनके रिश्ते को रेखांकित करते हैं (विगोत्सकी)। मीड की भाषा में कहा जाए तो, समाज उन्हें ''विशिष्ट पहचान'' की

एक तस्वीर प्रदान करता है और बाहरी दुनिया और इससे उनके अनुभवों से प्रेरित उनके अधिगम कार्यव्यवहार और कार्य के स्वरूप को निर्धारित करता है।

यहां तक कि यदि हम बाजार द्वारा उत्पादित और आपूर्ति, दोनों प्रकार से उपभोग के एक विशेष रूप में निजी शिक्षण पर विचार करते हैं जो जाहिर है कि छात्रों के पास निजी ट्यूशन के शिकार होने के अलावा अन्य विकल्प उपलब्ध नहीं हैं। इस स्थिति में बाउड्रिलार्ड का अवलोकन काफी दिलचस्प हो जाता है। बाउड्रिलार्ड (1998) के शब्दों में, उपयोग सामाजिक प्रयोजन की इच्छा अभिव्यक्त करता है। माता–पिता और विद्यार्थियों की स्वयं की छवि उनकी शैक्षिक पसंद से काफी प्रभावित हो सकती है और उपभोक्ता के व्यवहार के अनुभवजन्य साक्ष्य (जैसे ईस्टरलीन 1995 और सोलनिक और हेमेनवे 1998) सापेक्षिक महत्व को प्रकट करते हैं। लीबेनस्टीन (1950) ने तीन प्रकार के प्रभावों की पहचान की है– पहला : ''वेब्लेन प्रभाव'' जब उपभोक्ता महंगी वस्तुओं और सेवाओं की मांग अन्य उपभोक्ताओं की धरणा से प्रभावित होकर करता है; दूसरा ''बैंड वैगन प्रभाव'' जब मांग अन्य खरीददार उपभोक्ताओं की अधिक संख्या से सकारात्मक रूप से प्रभावित होती है; और तीसरा ''स्नोब प्रभाव'' जो भुगतान करने की इच्छा की विशिष्टता को दर्शाता है। शिक्षा एक सांस्कृतिक पूंजी और सामाजिक नेटवर्क प्रदान करती है, और वह सामाजिक पूंजी जिस पर माता–पिता स्कूली शिक्षा के विकल्प के चयन (एडनेट और डेविस 2002, 57 का निर्णय ले सकते हैं)।

सामाजिक अधिगम सिद्धांत यह मानता है कि, अवलोकन के अलावा, प्रत्यक्ष प्रबल अनुभूति भी सीखने की भूमिका में योगदान देता है। इसका महत्वपूर्ण प्राथमिक कार्य व्यक्तियों को उनकी भूमिका को उचित रूप से निर्वहन के लिए प्रेरित करना है। सामाजिक अधिगम के स्पष्टीकरण में सामाजिक स्वीकृति और अस्वीकृति प्रमुख रूप से महत्वपूर्ण हैं। इसलिए, यह सुझाव देना उचित है कि प्रतिस्पर्धी परीक्षा में विफलता और इसमें सफल होने की आकांक्षा, हालांकि व्यक्तिगत हित के रूप में दिखती है, वास्तव में, यह सामाजिक क्षेत्र में स्थित है। इसलिए, सामाजिक रूप से अनुमोदित क्षेत्रों में बेहतर प्रदर्शन करने की आकांक्षा और इसके लिए आवश्यक चीजों का उपभोग करने की इच्छा, अगर इसकी कोई गारंटी नहीं है, फिर भी कम से कम बेहतर सफलता दर की उम्मीद पैदा करती है। दूसरे शब्दों में, हमारी व्यक्तिगत प्राथमिकताएं और उपभोग की आकांक्षाएं सामाजिक रूप से संचालित, डिजाइन और निर्धारित हैं। एक आदर्श मानव समाज में, सभी व्यक्ति अपने सभी कार्यों के दौरान अन्य सभी के दृष्टिकोणों को

प्रभावित करने में सक्षम होते हैं (मीड 1934, 327)। संगठित समुदाय या सामाजिक समूह के रूप में सरलीकृत अन्य जो व्यक्ति की स्वयं के एकत्व का स्वरूप प्रदान करता है... (वही, 154)।

किसी भी मामले में, ज्यादातर लोग आमतौर पर, वर्तमान या कल्पना के लिए सामाजिक स्वीकृति तथा सकारात्मक प्रतिक्रिया देते हैं। सामाजिक मानदंड इसी पर निर्भर करता है। आम जन न केवल आपेक्षित कार्यों के बारें में सीखते हैं बल्कि यह भी सीखते हैं कि जब वे अपेक्षित कार्य करते हैं और उन्हें आत्मसात करते हैं तो उन्हें पुरस्कृत किया जा सकता है (मीड 1934, पृ.148-149)। यहां लोगों ने केवल एक अन्य विशिष्ट की भूमिका को ही ग्रहण नहीं किया है, बल्कि आम गतिविधि में भाग लेने वाले किसी अन्य व्यक्ति की भूमिका निभाई है; उन्होंने भूमिका निभाने के दृष्टिकोण को सामान्यीकृत किया है (मॉरिस XXIV)। चूंकि यह एक सामाजिक स्व है, यह एक ऐसा स्व है जिसे दूसरों के संबंध में आत्मसात किया जाता है। जिस मूल्यों को हम प्राप्त करना चाहते हैं उसे दूसरों को भी स्वीकार करना चाहिए (मीड 1934, 204)। उन्होंने आगे कहा कि स्वकीर्यता कुछ ऐसा है जिसका विकास हुआ है; यह शुरुआत में जन्मजात से नहीं है, लेकिन सामाजिक अनुभव और गतिविधियों की प्रक्रिया से उत्पन्न होता है, जो उस प्रक्रिया के संबंध में अंतर्निहित व्यक्ति में और पूरी तरह से उस प्रक्रिया के अंतर्गत अन्य व्यक्तियों के प्रक्रमण के परिणामस्वरूप विकसित होता है (मीड 1964, 199)। दूसरे शब्दों में, समग्र स्वकीयता की एकता और संरचना पूरी तरह से सामाजिक प्रक्रिया की एकता और संरचना को दर्शाती है... (वही 200)।

हमारा तर्क यह है कि चित्त कभी अभिव्यक्ति नहीं प्राप्त कर सकता है, सामाजिक वातावरण के संदर्भ के सिवा यह कभी भी अस्तित्व में नहीं आ सकता है; क्योंकि यह सामाजिक संबंधों और अंत:क्रियाओं का एक संगठित सेट या पैटर्न है (विशेष रूप से उन महत्वपूर्ण संकेतों के रूप में काम करने वाले संकेतों के संचार का माध्यम है और इस प्रकार यह विमर्श का ब्रह्मांड बनाता है जो आवश्यक रूप से इसके द्वारा निर्धारित किया जाता है और इसकी प्रकृति में समाहित होता है (मीड 1934, 223)। दूसरे शब्दों में, व्यक्तिगत स्थितियों में सुधार करने के लिए निजी शिक्षण की मांग के प्रति छात्र विवश होते हैं इसे स्पष्ट रूप से देखा जाता है। कहना न होगा कि, सामाजिक अपेक्षाओं का यह सामाजिक प्रत्युत्तर और प्रतिफल है। व्यक्ति अपने स्वयं के अनुभव को केवल एक वस्तु के रूप में ग्रहण करता है न कि विषय के रूप में स्वीकार करता है और वह केवल

सामाजिक संबंधों और अनुक्रिया तथा संगठित सामाजिक वातावरण में अन्य व्यक्तियों के साथ अपने अनुभवों के आदान-प्रदान के माध्यम से किसी वस्तु या विचार का स्वरूप निश्चित कर सकता है (वही 225)।

तीन बुनियादी प्रेरक सिद्धांतों में शामिल है निपुणता की इच्छा (पुरस्कार प्राप्त करने के लिए ब्रह्मांड को समझना), अन्य लोगों और समूहों से जुड़ाव की इच्छा, और सामाजिक रूप से विस्तारित स्वयं के सकारात्मक दृष्टिकोण को बनाए रखने और बढ़ाने की आकांक्षा (स्वयं अपने के साथ ही साथ अन्य व्यक्तियों या समूहों से जुड़े समूह से स्वयं का संबंध) (स्मिथ और मैकी 1997, 30)।

मीड के अनुसार, स्वयं को खुद अपनी प्रतिक्रिया देना, स्वयं को किसी वस्तु के रूप में प्रतिक्रिया देना, जिसका अर्थ यह है कि व्यक्ति सामाजिक संबंधों और चल रहे विमर्श (स्ट्राइकर 1997, 316) में प्रतिभागियों के रूप में स्वयं को प्रतिक्षिक्षित या परिभाषित करने के लिए तैयार कर सकते हैं अथवा परिभाषित कर सकते हैं।

अत: सामाजिक प्रभाव का सिद्धांत यह है कि कैसे लोगों के दृष्टिकोण और व्यवहार दूसरों के व्यवहार और दृष्टिकोण से प्रभावित होते हैं। प्रमुख सिद्धांतों का मानना है कि दो अलग-अलग प्रक्रियाएं इस तरह के प्रभाव के लिए जिम्मेदार हैं (टर्नर 1982)। अस्वीकृति से बचने और अनुमोदन प्राप्त करने के लिए दूसरों की अपेक्षाओं का अनुरूपीकरण एक (मानक) प्रक्रिया है। यह समूह दबाव के परिणामस्वरूप अनुपालन का दबाव है, जिससे बाह्य व्यवहार में परिवर्तन होता है, लेकिन निजी संज्ञानात्मक परिवर्तन नहीं होता है। दूसरी (सूचनात्मक) प्रक्रिया संज्ञानात्मक रूप से प्रेरित अनुरूपता है, जिसमें अनिश्चितता को कम करने और दुनिया को सही ढंग से समझने के लिए, दूसरों के व्यवहार को वास्तविकता के साक्ष्य के रूप में स्वीकार किया जाता है।

भूमिका अधिग्रहण वह ''प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक व्यक्ति कल्पनाशील रूप से दूसरे के दृष्टिकोण का सृजन करता है, और इस प्रकार दूसरे से भी इसी प्रकार के व्यवहार की उम्मीद करता है (बाउर और ब्रॉडमैन 1975, 137)। भूमिका निर्वहन की मानव क्षमता ''कर्तव्यों, अधिकारों, रीति-रिवाजों, कानूनों और मानव समाज के विभिन्न संस्थानों'' का निर्माता है (मीड 1938, 625) ।

निष्कर्ष

इस प्रवृत्ति के उदय के पीछे कई कारण हैं। सबसे पहले, स्कूल अपने बच्चों या समुदाय के प्रति अपनी दायित्व और प्रतिबद्धता को पूरा करने में सक्षम नहीं हैं। स्कूलों में खराब

शिक्षण, छात्रों के प्रति व्यक्तिगत रुचि की कमी, अतिसंवेदनशील कक्षाओं, खराब बुनियादी ढांचे, दूसरे शब्दों में, स्कूल की दक्षता में गिरावट ने माता-पिता को विकल्पों की तलाश करने के लिए मजबूर कर दिया, जिससे उन्होंने विकल्प के रूप में निजी शिक्षण को अपनाया। यह बिंदु बहुत महत्वपूर्ण हो जाता है जब यह पाया जाता है कि निजी शिक्षण पाठ्यपुस्तकों से परे ज्ञान या ज्ञान प्रदान नहीं करता है, बल्कि यह पाठ्यपुस्तकों और पाठ्यक्रम के अनुसरण में छात्रों को दक्षता प्राप्त करने में मदद करता है। दूसरा, महत्वाकांक्षी माता-पिता अपने बच्चों से बहुत अधिक उम्मीद करते हैं और महसूस करते हैं कि स्कूल एक सामान्यीकृत सामूहिक वातावरण की व्यवस्था में पर्याप्त शिक्षा प्रदान नहीं कर रहा है। इस अहसास ने उन्हें अन्य माध्यम ढूंढने के लिए प्रेरित किया जहां वे स्कूली व्यवस्था की कमियों को दूर कर सकते हैं और अतिरिक्त ज्ञान के साथ वांछित लक्ष्य प्राप्त कर सकते हैं। तीसरा, एक प्रतिस्पर्धी अर्थव्यवस्था और पेशेवर दुनिया में, रोज़गार के कारोबार में सफल होने के लिए लगातार तलवार के धार पर चलना पड़ता है। इसके अलावा, करियर पर इतना जोर देने के साथ, नौकरी की कमी ने कैरियर बनाने के लिए सतत प्रयास की स्थिति में स्कूल के बाहर के विकल्पों की तलाश को आवश्यक बना दिया है। चौथा, कई माता-पिता के लिए, एक प्रतिष्ठित निजी शिक्षण संस्थान में, अपने बच्चे को प्रवेश दिलाने के लिए, सामाजिक प्रतिष्ठा का विषय भी रहा है और छात्र सामाजिक तुलना की एक इकाई के रूप में एक विशेष कोचिंग समूह के सदस्यों के रूप में अपनी स्थिति का भी उपयोग करते हैं।

हालांकि, इनमें से अधिक, निजी शिक्षण की घटना बाजार अर्थव्यवस्था का एक उत्पाद और प्रक्रिया, दोनों है। दूसरे शब्दों में, यह बाजार-निर्मित मांग के साथ-साथ एक ऐसी प्रक्रिया है जिसने इसके लिए बाजार बनाया है। स्कूलों की अक्षमता और अभिभावकीय महत्वाकांक्षा ने मांगों के रूप में एक समर्थनकारी प्रणाली के बजाए निजी शिक्षण के विकास को संस्थागत रूपरेखा के रूप में विकसित किया। दूसरा, रोजगार की कमी, समाज के व्यावसायीकरण, तकनीकी और पेशेवर पाठ्यक्रमों और संस्थानों में प्रवेश के लिए प्रतिस्पर्धा में वृद्धि ने निजी संस्थानों के लिए बाजार बनाए रखा है। दूसरी तरफ, सशक्त विज्ञापन के माध्यम से, महत्वकांक्षी सपनों के वायदे और युवाओं तथा बच्चों की आकांक्षाओं के साथ खिलवाड़ करते हुए, निजी शिक्षण के संस्थागत केंद्रों ने खुद के लिए बाजार बना लिया है। उदाहरण के लिए, किसी मित्र के अनुमान के अनुसार विज्ञापन मीडिया में, भोपाल के प्रत्येक प्रतिष्ठित कोचिंग संस्थान विज्ञापनों पर 70 लाख से 1

करोड़ रुपये खर्च करते हैं। वास्तव में, वे कई सफल विद्यार्थियों को प्रस्तुत कर अपनी मांग बना रहे हैं और माता-पिता को अपनी प्रासंगिकता के विचार को बेचने में सक्षम हैं। रेलवे क्लर्क, बैंक अधिकारी, राज्य और संघ लोक सेवाओं आदि जैसे विभिन्न नौकरियों के उम्मीदवारों को टिप्स, तकनीक और प्रशिक्षण देने के लिए विशेष रूप से कोचिंग सेंटर के रूप में निजी शिक्षण एक प्रवृत्ति भी बन गया है। 1970 के दशक के आरंभ में, गीर्टज़ ने मैक्स वेबर की छवि का अनुमोदन करते हुए उद्धृत किया है- ''जीव अपने बने हुए जाल में फंस कर लटक गया''। वह आगे कहता है ''मैं उन जालों की संस्कृति को अपनाता हूं'' (गीर्टज़ 1973: 5) और संक्षिप्त रूप में इस तर्क को मैं संबोधित करता हूँ कि वर्तमान संदर्भ में निजी शिक्षण कुछ भी नहीं बल्कि विषम वैशिष्ट्य का एक तंत्र है। इस तंत्र के बारें में एक महत्वपूर्ण दृष्टिकोण मनोवैज्ञानिक विचारों को गहराई से रेखांकित करता है जो मीड और व्यागोत्स्की द्वारा विकसित तर्कों में अपना अर्थ और उद्देश्य, दोनों पाता है।

संदर्भ

एडनेट, एन. और पी. डेविस (2002) : मार्केट्स फॉर स्कूलिंग : एन इकनोमिक एनालिसिस। लंदन: रूटलेज।

अग्रवाल, एस.पी, और जे.सी अग्रवाल (1997) : डेवलपमेंट ऑफ एजुकेशन इन इंडिया : सेलेक्ट डाक्यूमेंट्स 1993-94, वॉल्यूम 4, नई दिल्ली, कांसेप्ट पब्लिकेशन।

अग्रवाल, वाई.(1998): प्राइमरी एजुकेशन इन डेल्ही: हाउ मच दो थे चिल्ड्रेन लर्न? नई दिल्ली, नीपा।

आलपोर्ट, जी.डब्लू. (1961): पैटर्न एंड ग्रोथ इन पर्सनालिटी, न्यूयार्क: होल्ट, राइनहार्ट और विंस्टन।

बाउड्रिलार्ड, जे. (1998) : द कंज्यूमर सोसाइटी: मिथ एंड स्ट्रक्चर, लंदन: सेज ।

बिस्वाल, बी.पी (1999) : ''प्राइवेट ट्यूटरिंग एंड पब्लिक करप्शन: अ कॉस्ट-इफेक्टिव एजुकेशन फॉर डेवलपिंग कन्ट्रीज'', डेवलपमेंट इकोनॉमिक्स, वॉल्यूम. 37, नं.2, पीपी. 222-240।

ब्रे, एम. (1999) : द शैडो एजुकेशन सिस्टम: प्राइवेट ट्यूटरिंग एंड इट्स इंपप्लिकेशंस फॉर प्लानर्स , फंडामेंटल आफ एजुकेशनल प्लानिंग नं. 61, पेरिस: यूनेस्को, इंटरनेशनल इंस्टिट्यूट आफ एजुकेशनल प्लानिंग

------ (1999): द प्राइवेट कोस्ट ऑफ पब्लिक स्कूलिंग: द हाउसहोल्ड एंड कम्युनिटी फाइनेंसिंग ऑफ प्राइमरी एजुकेशन इन कंबोडिया, पेरिस: यूनेस्को, आइआइइपी-यूनिसेफ।

------ (2009): कांफ्रोंटिंग शैडो एजुकेशन सिस्टम: व्हाट गवर्नमेंट पोलिसस फॉर व्हाट प्राइवेट ट्युटोरिंग? पेरिस: यूनेस्को।

------ (2010): ''रिसर्चइंग शैडो एजुकेशन: चुनौतियां एंड डायरेक्शन'', एशिया पसिफ़िक एजुकेशन

रिव्यु, 11(1), पी.पी 3-13।

ब्रे, मार्क, और पर्सी क्वाक (2003) : ''डिमांड फॉर प्राइवेट सप्लिमेंटरी ट्युटरिंग: कॉनसेपचुअल कोंसीडरेसन एंड सोसिओ-इकनोमिक पैटर्न्स इन हांगकांग,'' इकोनॉमिक्स आफ एजुकेशन रिव्यु, 22(6), पी.पी 611-620।

ब्रे, एम. एंड एल. चाड (2012): शैडो एजुकेशन: प्राइवेट सप्लीमेंटरी ट्यूटरिंग एंड इट्स इंप्लीकेशन्स फॉर पॉलिसी मेकर्स इन एशिया, मनीला: एशियन डेवलपमेंट बैंक और हांगकांग कम्पेरेटिव एजुकेशन रिसर्च सेंटर, द यूनिवर्सिटी ऑफ हांगकांग ।

डेविस, एस (2004): ''स्कूल च्वाइस बाय डिफॉल्ट? अंडरस्टैंडिंग द डिमांड फॉर प्राइवेट ट्युटरिंग इन कनाडा'', अमेरिकन जर्नल ऑफ एजुकेशन, 110(3), पीपी 223-255।

डि मैगियो, पी. (2000): ''सोशल स्ट्रक्चर्स, इंस्टीट्यूशंस एंड कल्चरल गुड्स: द केस ऑफ यूनाइटेड स्टेट्स'', इन गिगी ब्रैडफोर्ड एट अल (एडस.), द पॉलिटिक्स ऑफ कल्चर: पॉलिसी पर्सपेक्टिव्स फॉर इंडिविजुअल्स, इंस्टीट्यूशंस एंड कम्युनिटीज, न्यूयार्क, द न्यूयार्क प्रेस एंड सेंटर फॉर आर्ट्स कल्चर, पीपी 38-62।

चाक्लिन, एस. (एड.) (2001): द थ्योरी एंड प्रैक्टिस ऑफ कल्चरल-हिस्टोरिकल साइकोलॉजी, अरहस, अरहस यूनिवर्सिटी प्रेस।

डगलस, एम. (1970): नेचुरल सिंबल्स, न्यूयार्क, विंटेज।

ईस्टरलीन, आर. (1995): ''विल रेसिंग द इनकम फॉर आल इनक्रीस द हैप्पीनेस ऑफ आल?'', जर्नल ऑफ इकोनोमिक बिहेवियर एंड ऑर्गनाइज़ेशन, 26, पीपी 35-47।

फोंडुन, ए.आर. (1992): प्राइवेट ट्यूशन इन मॉरीशस: द माड रेस फॉर ए प्लेस इन 'फाइव स्टार' स्कूल, इंटरनेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ एजुकेशनल प्लानिंग, यूनेस्को: पेरिस।

फोंडुन, ए.आर. (2002): ''द इशू ऑफ प्राइवेट ट्यूशन: अन एनालिसिस ऑफ द प्रैक्टिस इन मारीशस एंड सिलेक्टेड साउथ एशियाई कन्ट्रीज'', इंटरनेशनल रिव्यु ऑफ एजुकेशन, वॉल्यूम 48, इशू नं.6, पीपी 485-515।

फौकौल्ट, एम. (1979): डिसिप्लिन एंड पुनीश: द बर्थ ऑफ द प्रिज़न, न्यूयार्क, विंटेज।

फुलर, बी और ई. हनुम (एडस) (2009): स्कूलिंग एंड सोशल कैपिटल इन डाइवर्स कल्चर, एम्स्टर्डम जेएआई प्रेस.।

गीट्ज़, सी. (1973): द इंटरप्रिटेशन ऑफ कल्चर, न्यूयार्क, बेसिक बुक्स।

गोल्ड, एम. और ई. डुवन (2002): ए न्यू आउटलाइन ऑफ सोशल साइकोलॉजी, वाशिंगटन, अमेरिकन साइकोलॉजिकल एसोसिएशन।

जयचंद्रन, एस. (2014): ''इंसेंटिव टू टीच बदली? आफ्टर-स्कूल ट्यूटरिंग इन डेवलपिंग कन्ट्रीज,'' जर्नल ऑफ डेवलपमेंट इकोनॉमिक्स, 108, पीपी. 190-205।

जेफरी, आर. एट अल. (2005): ''सोशल इनइक्वलिटीस अन प्राइवेटाइजेशन ऑफ सेकेंडरी स्कूल्स इन नार्थ इंडिया'', इन चोपड़ा आर. और आर. जेफ्री, (एडस.) एजुकेशनल रेजिमेस इन कंटेम्पररी इंडिया, नई दिल्ली, सेज।

कोजुलिन, ए. (1986): ''द कांसेप्ट ऑफ एक्टिविटी इन सोवियत साइकोलॉजी: व्यगोत्स्की, हिज डिसिप्लिन एंड क्रिटिक्स'', अमेरिकन साइकोलॉजिस्ट, वॉल्यूम 41, नं.3, पीपी। 254–274।

लॉयर, आर. एच. और डब्ल्यू. एच. हेंडेल, (1983): सोशल साइकोलॉजी: द थ्योरी एंड एप्लीकेशन ऑफ सिंबोलिक इंटरेक्शन, एंगलवुड क्लिफ्स, एनजे. प्रेन्टिस हॉल।

लॉर, आर.एच. और एल. ब्रॉडमैन (1975): ''रोल-टेकिंग: थ्योरी, टाइपोलॉजी और प्रोपोसीसंस'', सोशियोलॉजी एंड सोशल रिसर्च, 55 (जनवरी) 137।

लीबेनस्टीन, एच. (1950): स्नबैंडमगन, स्नोब और वेबलन इफ़ेक्ट इन द थ्योरी ऑफ कांसुमेर्स' डिमांडस्न, क्वार्टरली जर्नल ऑफ इकोनॉमिक्स 64, पीपी। 198–207।

लेस्टर, डी. (1995): थ्योरीइस ऑफ पर्सनालिटी: अ सिस्टम एप्रोच,, ब्रिस्टल, टेलर और फ्रांसिस।

मैकगार्टी, सी. एंड एस.ए. हसलाम (एडस.) (1997): द मेसेज ऑफ सोशल साइकोलॉजी। कैम्ब्रिज: ब्लैकवेल।

मीड, जी.एच. (1934): माइंड, सेल्फ एंड सोसाइटी: फ्रॉम द स्टैंडपॉइंट ऑफ ए सोशल बिहेवियरिस्ट (एड)

सी. एच. मॉरिस, शिकागो, द यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस।

------ (1938): द फिलॉसफी ऑफ द एक्ट, शिकागो, द यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस।

------ (1964): सिलेक्टेड पेपर्स, एड.। एंसलम स्टॉस, शिकागो, द यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस।

मिलर, डेविड एल (1973): जी.एच। मीड: सेल्फ, लैंग्वेज एंड द वर्ल्ड, शिकागो, यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस।

मॉरिस, चार्ल्स (1964): सिगनीफीकेसन एंड सिगनिफीकेन्स: अ स्टडी ऑफ द रेलातिओंस ऑफ साइंस एंड वैल्यूज, मैसाचुसेट्स, एमआईटी प्रेस।

मॉरिस, चार्ल्स (1946): साइन्स, लैंग्वेज एंड बिहावियो यू आर, न्यूयार्क, अप्रेंटिस-हॉल।

नटसन, मौरिस (1956): द सोशल डायनेमिक्स ऑफ जॉर्ज एच. मीड, वाशिंगटन, डीसी, पब्लिक अफेयर्स प्रेस।

एन.जी.टी. और एम. ली (2015): ''प्राइवेट ट्यूटरिंग, टीचर परफॉर्मेंस पे एंड इंसेंटिव टू टीच बैडली'', जर्नल ऑफ कम्पेरेटिव इकोनॉमिक्स, वॉल्यूम। 42 (1)।

पोंट्रीगैन, एल.एस. (1980): लीनियर डिफरेंशियल गेम्स ऑफ पर्पस, मैट. सर्बनिक, 112 (154) (3(7)), पीपी। 307–330, इन रुससियन।

रसेल, जे. (2002): द सीक्रेट लेसन, न्यू स्टेट्समैन, 8 अप्रैल, पीपी। 10–13।

सेन, ए. (2002): ''इंट्रोडक्शन, प्रतीची एजुकेशन रिपोर्ट: अ स्टडी ऑफ पश्चिम बंगाल,'' नई दिल्ली, प्राची रिसर्च टीम।

सोलनिक, एस. एंड डी. हेमेनवे (1998): ''इस मोरे ऑलवेज बेटर? अ सर्वे ऑन पोजिशनल कंसर्न'', जर्नल

ऑफ इकोनॉमिक बिहेवियर एंड आर्गेनाईजेशन 37, पीपी। 373-83।

स्मिथ ई.आर. एंड डी.एम. मैककी (1997): ''इंटरग्रेटिंग द साइकोलॉजिकल एंड द सोशल टू अंडरस्टैंडिंग ह्यूमन बिहेवियर'', इन सी. मैकगार्टी एंड एस.ए. हसलाम (एडस.।) द मेसेज ऑफ सोशल साइकोलॉजी: पर्सपेक्टिव्स ऑन माइंड इन सोएसेविटी, ऑक्सफोर्ड, ब्लैकवेल, पीपी। 305-314।

स्ट्रोमक्विस्ट, एन.पी. (2002): एजुकेशन इन अ ग्लोबलाइज़्ड वर्ल्ड। न्यूयार्क, रोवमैन और लिटिलफ़ील्ड इंक।

स्ट्राइकर एस. (1997): ''इन द बिगिनिंग देयेर इज़ सोसाइटी: लेसन्स फ्रॉम ए सोशियोलॉजिकल सोशल साइकोलॉजी। इन द मेसेज ऑफ सोशल साइकोलूजी: पर्सपेक्टिव्स ऑन माइंड इन सोसाइटी, एडस. सी मैकगार्टी, एस.ए. हसलाम, कैम्ब्रिज, एम.ए.। ब्लैकवेल, पीपी। 315-27।

सुजाता के. (2006): प्राइवेट ट्यूशन अमोंग सेकेंडरी स्टूडेंट्स इन फोर स्टेट्स. न्यू डेल्ही,नीपा

सुजाता के. (2006): प्राइवेट ट्यूशन इन इंडिया: ट्रेंड्स एंड ट्रबल, नई दिल्ली: नीपा।

------ (2012): प्राइवेट ट्यूशन इन इंडिया: ट्रेंड्स एंड इश्यूज, https://ries.revues/3913

तंसेल, ए. एंड एफ. बिरचान (2006): ''डिमांड फॉर एजुकेशन इन तुर्की: अ टोबैट एनालिसिस ऑफ प्राइवेट ट्युटोरिंग एक्सपेंडीचरस'', एकोनिक ऑफ एजुकेशन रिव्यु, 25 (4), पीपी। 303-313।

टर्नर, जे.सी. (1982): टूवर्ड्स द कॉग्निटिव रिडिफाइनमेंट ऑफ द सोशल ग्रुप, इन एच. ताजेल (एड.), सोशल आइडेंटिटी एंड इंटरग्रुप रिलेशन्स, कैम्ब्रिज, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।

व्यगोत्स्की, एल.एस (1997): द कलेक्टेड वर्क ऑफ एल.एस व्यगोत्स्की, वॉल्यूम 4: द हिस्टरी ऑफ द डेवलपमेंट ऑफ हायर मेंटल फंसन्स (आर.डब्लु. रिबेर, वोल.एड; एमजे हॉल, ट्रांस.), न्यूयार्क, प्लेनम प्रेस, (ओरिजिनल वर्क पब्लिश्ड 1941)।

व्यगोत्स्की, एल. (1964): द जेनेरिस ऑफ हायर मेंटल फनसंस'', इन जे.वी. वेह (एड,), द कांसेप्ट ऑफ एक्टिविटी इन सोवियत साइकोलॉजी, एनमॉन, एनवाई. एमई. शार्प।

व्यगोत्स्की, आई.एस. (1978): माइंड इन सोसाइटी: द डेवलपमेंट ऑफ हायर साइकोलॉजिकल प्रोसिजर्स, एम. कोल, वी. जॉन-स्टेनर, एस. स्क्रिब्नर एंड ई. सोबरमैन (एडस.), कैम्ब्रिज, एमए. हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

व्यगोत्स्की, एल.एस. (1979): ''कांशसनेस अस अ प्रॉब्लम इन द साइकोलॉजी ऑफ बिहेविअर'', सोवियत साइकोलॉजी, 17(4), पीपी। 3-35।

व्हीवेल डब्ल्यू. (1837): ऑन द प्रिंसिपल्स ऑफ इंग्लिश यूनिवर्सिटी एजुकेशन, कैम्ब्रिज, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।

जेपा, वॉल्यूम XXXI, संख्या 1, जनवरी 2017, से साभार

अनुलग्नक

तालिका–1

ट्यूशन प्राप्त करने के कारण

कारण	योग
स्कूल की पढ़ाई से पाठ समझ में नहीं आता	8.41
स्कूल में अध्यापक ठीक से नहीं पढ़ाते	11.87
और अधिक समझ की आवश्यकता	17.74
अंक कम प्राप्त हो रहे थे	13.00
परीक्षा में अधिक अंक प्राप्त करने के लिए	14.13
प्रतियोगिता परीक्षा की तैयारी	12.44
अभिभावक का निर्णय था	8.18
क्योंकि मित्र ट्यूशन में जाते थे	8.23
अन्य कारण (निजी)	6.00

तालिका–2

ट्यूशन ब्यूरो के मासिक शुल्क की तालिका

विषय	*VIII*	*IX*	*X*	*XI*	*XII* (कॉमर्स)	*XII* (साइंस)
इंग्लिश	600/-	700/-	800/-	800/-	1,000/-	1,000/-
गणित	600/-	700/-	700/-	2000/-	2,000/-	2,000/-
विज्ञान	600/-	500/-	550/-	भौतिक. 2,500/- रसायन. 2,500/- जीव. 2,500/-		भौतिक. 2,500/- रसायन. 2,500/- जीव. 2,500/-
हिन्दी	500/- (3 दिन)	500/- (3 दिन)	500/- (3 दिन)			
सामाजिक शिक्षा	600/- (3 दिन)	550/- (4 दिन)			अर्थ. 1,000/- लेखा. 1,000/- अन्य-1,000/- (प्रत्येक)	
सभी विषय				Rs. 25,000/- एक विषय का पैकेज 6 घंटे प्रति सप्ताह 6 माह के लिए		Rs. 25,000/- एक विषय का पैकेज 6 घंटे प्रति सप्ताह 6 माह के लिए

स्रोत: स्टडी सेंटर भोपाल का क्षेत्रीय अध्ययन 2015–16

नोट: 1. कक्षा 9–12 के विद्यार्थियों हेतु आईआईटी, पीएमटी और दूसरी प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी के लिए विशेष कोचिंग कक्षाएं आयोजित की जाती हैं। इनमें किशोर वैज्ञानिक प्रोत्साहन पुरस्कार, राष्ट्रीय प्रतिभा छात्रवृत्ति और गणित आदि के भी पाठ्यक्रम शामिल हैं। इन परीक्षाथियों के लिए चर और विशेष शुल्क तालिका है।

2. भोपाल के अधिकांश कोचिंग संस्थानों ने आवश्यकता कौशल तथा विद्यार्थियों की भुगतान क्षमता को ध्यान में रखते हुए 3 माह से द्विवर्षिक अवधि के लिए विशेष अध्ययन पैकेज तैयार किया है।

3. यह दिलचस्प है कि पैकेजों के शुल्क में मोल–तोल की संभावना होती है जो संस्थानों की प्रतिष्ठा और उनमें पढ़ाने वाले अध्यापकों की निजी प्रतिष्ठा पर आधारित होती है।

परिप्रेक्ष्य
वर्ष 25, अंक 2, अगस्त 2018

भाषा-शिक्षण में आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र की उपयोगिता

बीरेंद्र सिंह रावत*

भूमिका

स्कूली पाठ्यक्रम में भाषा की भूमिका को शुरुआती कक्षाओं से ही महत्वपूर्ण माना जाता है। पहली कक्षा से ही भाषा की पढ़ाई किसी-न-किसी रूप में होती है। स्कूली पाठ्यक्रम में भाषा के उद्देश्यों का प्रसार, भाषाई कुशलताओं के विकास से लेकर अनुभवों को व्यक्त करने तथा अनुभवों को सुधारने तक दिखाई देता है। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद (एनसीईआरटी), नई दिल्ली द्वारा तैयार प्रारंभिक कक्षाओं के लिए हिंदी के पाठ्यक्रम में कहा गया है कि *''भाषा एक औजार है जिसका इस्तेमाल हम ज़िन्दगी को समझने के लिए, उससे जुड़ने के लिए और जीवन-जगत को प्रस्तुत करने के लिए करते हैं। यह सब करने के लिए जाँच-पड़ताल, तर्क, संप्रेषण जैसे कौशलों की जरूरत होती है।''* (2006, पृ. 9)। विभिन्न पाठ्यचर्या प्रारूपों ने भाषा को स्कूली जीवन में केन्द्रीय भूमिका प्रदान की है। इसके महत्व का पता इस बात से भी चलता है कि 'शिक्षा के लक्ष्य' पर तैयार राष्ट्रीय फोकस समूह के आधार-पत्र (2007, 7) में 'भाषा, परंपरा तथा समझदारी' नाम से एक विशेष अंश जोड़ा गया जिसमें यह समझाया गया है कि, शिक्षा के उद्देश्यों को हासिल करने में भाषा की भूमिका के अलग-अलग पक्षों को समझना निहायत जरूरी है। इस आधार-पत्र में कहा गया है कि ''हम दूसरों से अंत:क्रिया करते समय पदानुक्रम के पैटर्न और उसकी संरचना, शक्ति और सामर्थ्य, अधीनीकरण तथा दमन, नियंत्रण और प्रभुत्व का अनुभव करते हैं और इनसे परिचित हो जाते हैं।'' (वही)। भाषा का उपयोग करते हुए हम मानवजाति के व्यवहार के इन तमाम पक्षों से परिचित होते रहते हैं। लेकिन प्रश्न यह उठता है कि क्या इनसे परिचित हो जाना काफी है या इनमें गुँथे हुए विचार तथा उनके सन्दर्भों को समझकर उनके लोकतांत्रिक विकल्पों की तलाश करने की दिशा की ओर बढ़ना भी अपेक्षित है?

---

* शिक्षाशास्त्र विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007

एनसीईआरटी द्वारा माध्यमिक तथा उच्च माध्यमिक कक्षाओं के लिए तैयार किए गए पाठ्यक्रम में यह चिंता व्यक्त की गई है कि 'भाषा के अनेक पक्ष हैं जिनके बारे में भाषा शिक्षा के योजनाकार गंभीरता से विचार नहीं करते।'' (2006, पृ.163)। वे कौन से पक्ष हैं जिनके बारे में उपर्युक्त चिंता जाहिर की गई है। वे पक्ष हैं, भाषा तथा सामाजिक-सांस्कृतिक और राजनैतिक संदर्भों के बीच संबधों को समझना। यह सच है कि भाषा, संप्रेषण का साधन है, लेकिन यह पूरी तरह से सच नहीं है। इस बात को यूँ भी कहा जा सकता है कि संप्रेषण भाषा का अनिवार्य तत्व है, लेकिन वह इसका पर्याप्त तत्व नहीं है। भाषा की सबसे प्रचलित परिभाषा यह है कि भाषा संप्रेषण का माध्यम है, परन्तु यह भाषा और भाषा-शिक्षण के दायरे को बहुत ही सीमित कर देती है। सामान्यत: भाषा को संप्रेषण के साधन के रूप में देखा जाता है। इस बात पर विचार करना आवश्यक है कि संप्रेषण की विषयवस्तु का सृजन किस प्रकार होता है। भाषा अर्जित करने की क्षमता मनुष्य में जन्मजात होती है, लेकिन भाषा का सृजन सायास मानसिक प्रक्रियाओं द्वारा किया जाता है। भाषा को संप्रेषण के रूप में समझने के साथ-साथ, भाषा के सृजन की प्रक्रिया को समझना भी आवश्यक है। यह समझना आवश्यक है कि भाषा के सृजन का संबंध समाज की विभिन्न जरूरतों के साथ है। अनेक बार विभिन्न सामाजिक समूहों की जरुरतें आपस में टकराती हैं। ऐसे में भाषा का उपयोग दूसरे समूहों को दबाने के लिए किया जाने लगता है। जैसा कि एनसीईआरटी द्वारा, माध्यमिक तथा उच्च माध्यमिक कक्षाओं के लिए तैयार किये गये पाठ्यक्रम में कहा गया है कि ''हालांकि यह ठीक है कि बच्चे जन्मजात भाषा-क्षमता के साथ पैदा होते हैं परंतु प्रत्येक भाषा विशेष प्रकार के सामाजिक-सांस्कृतिक और राजनैतिक संदर्भ में अर्जित की जाती है। प्रत्येक बच्चा यह सीखता है कि क्या कहना है, किसे कहना है, कहाँ कहना है।'' (2006, पृ. 163)। किसे क्या कहना है, किसे क्या कहा जा सकता है यह कहने और सुनने वाले/वाली के बीच सन्दर्भों की बुनावट पर निर्भर करता है। इसलिए भाषा को सीखने का दायरा संप्रेषण से आगे बढ़कर सामाजिक, साँस्कृतिक, तथा आर्थिक संरचनाओं तक जाता है।

नीतिगत तौर पर यह सुनिश्चित किया गया है कि भारत में शिक्षा के लक्ष्य वही हैं जो भारत के संविधान में वर्णित सिद्धांत हैं। (National Policy on Education-1986, para 3.1)। भारत के संविधान के अनुसार देश को ऐसा गणराज्य बनाना है जो समाजवादी, पंथनिरपेक्ष तथा लोकतान्त्रिक हो। ऐसा देश जिसमें सभी लोग, सभी के लिए न्याय, स्वतंत्रता तथा समता सुनिश्चित करेंगे ताकि हर एक की गरिमा तथा राष्ट्र की एकता को बनाए रखा जा सके। एनसीईआरटी द्वारा तैयार की गयी राष्ट्रीय पाठ्यचर्चा की रूपरेखा (2005, पृ. 6) में जिन पाँच मार्गदर्शक सिद्धांतों की चर्चा की गई है उनमें से एक सिद्धांत है- ''एक ऐसी

अधिभावी पहचान का विकास जिसमें प्रजातांत्रिक राज्य-व्यवस्था के अन्तर्गत राष्ट्रीय चिंताएँ समाहित हों।'' ऐसी राज्य-व्यवस्था में 'एक लोकतान्त्रिक नागरिक में सच को झूठ से अलग छाँटने, प्रचार से तथ्य को अलग करने, धर्मांधता और पूर्वाग्रहों के ख़तरनाक आकर्षणों को अस्वीकार करने की समझ व बौद्धिक क्षमता होनी चाहिए।'' (माध्यमिक शिक्षा आयोग, 1952 जैसा कि राष्ट्रीय पाठ्यचर्चा की रूपरेखा-2005, पृ.7-8 पर उद्धरित है)। भाषा के शिक्षण की योजना बनाते हुए इस बात का ध्यान रखा जाना आवश्यक है कि भाषा की कक्षाएँ संवैधानिक उम्मीदों पर खरी उतर सकें। यही वह चिंता है जिसका जिक्र एनसीईआरटी द्वारा माध्यमिक तथा उच्च माध्यमिक कक्षाओं के लिए तैयार किए गए पाठ्यक्रम के हवाले से पहले भी किया जा चुका है।

एनसीईआरटी द्वारा, माध्यमिक तथा उच्च माध्यमिक कक्षाओं के लिए बनाए गए पाठ्यक्रम में लिखा हुआ है कि ''विद्यार्थियों को हमारी समृद्ध संस्कृति, विरासत और समसामयिक जीवन के पक्षों से परिचित कराने के लिए भाषा की कक्षाओं में पर्याप्त संदर्भ-बिंदु मौजूद होते हैं। पाठों के माध्यम से भाषा की कक्षा में विद्यार्थियों को परिवेश, लोगों और देश के प्रति संवेदनशील बनाने के लिए भरपूर प्रयास किए जाने चाहिए।'' (एनसीईआरटी, 2006, पृ. 167)। संवेदनशील बनाने की सीमाएँ उस समय दिखने लगती हैं जब असमतामूलक स्थितियों के कारणों तथा उनके विभिन्न संदर्भों को समझे बिना संवेदनशीलता को एक कार्यक्रम के रूप में ढाला जाने लगता है। लोकतान्त्रिक प्रतिबद्धताओं की दिशा में सक्रिय योगदान देने के लिए सूचना-ग्रहण तथा कुशलताओं के विकास से आगे बढ़कर शिक्षा की प्रक्रिया को आलोचनात्मक बनाए जाने की आवश्यकता है। 'समृद्ध संस्कृति' और 'विरासत' से परिचित होना यदि भाषा-शिक्षण का उद्देश्य है तो फिर इसका अर्थ है कि भाषा की शिक्षा को संवैधानिक सिद्धांतों के ज्यादा करीब जाने से रोका जा रहा है। 'शिक्षा के लक्ष्य' पर तैयार राष्ट्रीय फोकस समूह के आधार-पत्र (2007, पृ. 7) में भी भाषा के जरिए अंत:क्रिया में पैठे ''पदानुक्रम के पैटर्न और उसकी संरचना, शक्ति और सामर्थ्य, अधीनीकरण तथा दमन, नियंत्रण और प्रभुत्व का अनुभव'' करने और इनसे 'परिचित' होने की बात कही है। लेकिन इन्हें समझने, चुनौती देने और बेहतर बनाने की बात नहीं कही गयी है। 'समृद्ध संस्कृति' और 'विरासत' को समझना, उसमें पैठे शक्ति-संबंधों को उजागर करना, तथा समाजवादी-लोकतंत्र के संवैधानिक सिद्धांतों के विरोध में जाने वाले किसी भी 'समृद्ध संस्कृति' और 'विरासत' का विरोध करना और उसके समाजवादी-लोकतान्त्रिक विकल्पों की दिशा में बढ़ाना भाषा शिक्षा का उद्देश्य है।

अपने द्वारा किये गये एक शोध में मैंने पाया कि हिंदी की पाठ्यपुस्तकों में दिये गये प्रश्नों में आलोचनात्मक चरित्र के प्रश्न शून्य हैं। उस शोध में मैंने उत्तर भारत की आठ

सरकारी एजेंसियों द्वारा तैयार पहली से आठवीं कक्षाओं तक की पाठ्यपुस्तकों के पाठों के आखिर में दिये गये प्रश्नों का ज्ञानमीमांसीय विश्लेषण किया था। उस शोध में मैंने पाया कि विद्यार्थिओं को आलोचनात्मक दिशा में बढ़ाने वाले प्रश्न शून्य हैं। उस शोध से प्राप्त अनुभव के कारण मैं भाषा–शिक्षण के आलोचनात्मक होने के बारे में सोचने हेतु प्रेरित हुआ हूँ।

आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र

आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र, शिक्षण का वह तरीका है, जिसका मकसद किसी भी प्रकार के सामाजिक उत्पीड़न और उससे संबंधित रिवाज़ों और विश्वास को समझना, उन्हें चुनौती देना और उनके खिलाफ संघर्ष करना है। आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र, आलोचनात्मक सिद्धांतों पर टिका हुआ है जो विद्यार्थियों को ऐसे सिद्धांत और ऐसे व्यवहार उपलब्ध करवाता है, जिनकी मदद से विद्यार्थियों में आलोचनात्मक चेतना विकसित होती है। उस आलोचनात्मक चेतना की मदद से विद्यार्थी स्थापित सामाजिक प्रतिष्ठानों और संबंधों पर सवाल उठाते हैं और उनको बेहतर बनाने का ज़रिया खोजते हैं।

मुक्ति, आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र की एक महत्वपूर्ण अवधारणा है। मुक्ति, उत्पीड़नकारी सामाजिक संबंधों से, जिसके प्रति आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र प्रतिबद्ध है। इस शिक्षणशास्त्र का मकसद विद्यार्थियों को यह समझाना है कि तमाम तरह के सामाजिक संबंध, जिनमें असमानता के संबंध भी हैं, मनुष्य द्वारा बनाए गए हैं और एक ऐतिहासिक सामाजिक प्रक्रिया की देन हैं। जब विद्यार्थियों को इस वास्तविकता का पता चल जाएगा तब वे किसी के द्वारा मैनिपुलेट किए जाने वाली वस्तुएँ बनने को तैयार नहीं होंगी/होंगे।

आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र के अनुसार शिक्षा, मूल रूप से राजनीतिक होती है और किसी भी प्रकार के शिक्षणशास्त्र को इस तथ्य के प्रति सचेत रहना चाहिए। किसी भी प्रकार की शिक्षा का आधार, सामाजिक और शैक्षणिक न्याय और बराबरी पर निर्भर होना चाहिए। न्याय और बराबरी को पाने के लिए हर प्रकार के उत्पीड़न से मुक्ति शिक्षा का एक महत्वपूर्ण पक्ष होना चाहिए। (Paulo Freire on Critical Pedagogy retrieved on 21.7.18).

मैक्स होर्खीमेर ने आलोचनात्मक सिद्धांत की परिभाषा देते हुए बताया है कि कोई भी आलोचनात्मक सिद्धांत तब ही पर्याप्त माना जाएगा जब वह एक ही साथ तीन मानदंडों पर खरा उतरे। ये मानदंड हैं एक्स्प्लैनेट्री (व्याख्यात्मक) होना, प्रैक्टिकल (व्यावहारिक) होना और नोर्मेटिव (मानकयुक्त) होना। उनके अनुसार एक आलोचनात्मक सिद्धांत इस बात की व्याख्या कर सके कि वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में क्या खराबी है, आलोचना हेतु स्पष्ट मानदंड उपलब्ध करवा सके, और सामाजिक रूपांतरण के लिए हासिल किये जा सकने वाले लक्ष्य उपलब्ध करवा सके। (वही)।

आलोचनात्मकता की अवधारणा को समझने के लिए, प्रत्यक्षवाद की अवधारणा को समझना जरुरी है। क्योंकि प्रत्यक्षवाद की अवधारणा के विरोध में खड़े हुए फ्रँकफ्रर्ट स्कूल के सिद्धान्तकारों ने प्रत्यक्षवाद की गंभीर ख़ामियों को समझा था। इन सिद्धान्तकारों का कहना है कि प्रत्यक्षवाद 'दिये' गये को ही आदर्श बनाकर उसी का पुनरुत्पादन करता है। उनके अनुसार प्रत्यक्षवाद 'दिये' गए के साथ चिपक ही नहीं जाता, बल्कि उसे सही भी मानता है। (Botomore, 2007, पृ. 28)। फ्रँकफ्रर्ट स्कूल ने प्रत्यक्षवाद की आलोचना तीन आधारों पर की है। पहला, प्रत्यक्षवाद एक अपर्याप्त तथा भ्रामक अप्रोच है, जिसके सहारे सामाजिक जीवन की सच्चाई को जाना ही नहीं जा सकता। दूसरा, जो 'है' उसी को अपनी मान्यता देकर यह किसी भी प्रकार के परिवर्तन को बाधित कर समाज को ''राजनैतिक ख़ामोशी'' की तरफ ले जाता है। तीसरा, यह ''टेक्नोक्रेटिक डोमिनेशन'' पर टिका होने के कारण प्रभुत्व के नये रूपों को पैदा करता है। (वही)।

फ्रँकफ्रर्ट स्कूल से निकला आलोचनात्मक चिंतन अपने जन्म से ही 'दिये' गये पर सवाल उठाता आया है। ऐसे सवाल जो सामाजिक संरचनाओं में शक्तिसंबंधों से संबंधित हों। आलोचनात्मक चिंतन के अनुसार ''चारों तरफ से हमें एक व्यवहारवादी विमर्श ने घेर रखा है, वास्तविकता को बदलना नहीं, उसके अनुरूप ढलना ही जिसका मूल मंत्र है।'' (फ्रेरे, 2010, उम्मीदों का शिक्षाशास्त्र, पृ. 9)। स्वयं को 'दिये' गये ज्ञान के अनुरूप 'ढलने' से बचाने के लिए मनुष्य को ऐतिहासिक चेतना से लैस होना होता है। उसे यह समझना होता है कि वह जैसा है, वह किन ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के परिणाम स्वरूप है। मनुष्य को ऐतिहासिक चेतना के साथ जीने में मदद करना, आलोचनात्मक चिंतन का एक उद्देश्य है। यह चिंतन किसी अलौकिक सत्ता की खोज के लिये परेशान नहीं रहता है। इस चिंतन धारा के अनुसार:

> ''मानवीय स्थिति पर किया जाने वाला चिंतन अस्तित्व की बुनियादी शर्त ही पर किया जाने वाला चिंतन है, और यह बुनियादी शर्त है, आलोचनात्मक चिंतन जिसके जरिए मनुष्य एक दूसरे को 'एक स्थिति' में खोज पाते हैं। प्रतिबद्धता केवल तभी संभव है, जब यह स्थिति उन्हें सघन और आच्छादित कर लेने वाले यथार्थ के रूप में या एक दुख:दायी अंधी गली के रूप में दिखनी बंद हो जाती है और वे उस स्थिति को एक वस्तुपरक-समस्यामूलक स्थिति के रूप में देखने लगते हैं। ज्यों-ज्यों यथार्थ का अनावरण होता जाता है, मनुष्य अपनी डूब में से उभरते जाते हैं और हस्तक्षेप करने की क्षमता अर्जित करते जाते हैं। यथार्थ में हस्तक्षेप स्वयं एक ऐतिहासिक बोध है। इस प्रकार वह उभरने से एक कदम आगे बढ़ने की अवस्था है। यह स्थिति के विवेकीकरण का

परिणाम है। विवेकीकरण बोधवृत्ति का गहन होना है, जो हर प्रकार के उभरने की विशेषता है।'' (फ्रेरे, 1997, उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र, पृ. 67)।

आलोचनात्मक चिंतन के लिए मनुष्य और उनके समूहों में विवेकीकरण की प्रक्रिया को जगाना और तेज करना एक अनिवार्य शर्त है। ''विवेकीकरण'' का अर्थ है सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक अंतर्विरोधों को समझना और यथार्थ के उत्पीड़क तत्वों के विरुद्ध, कर्म करना।'' (वही, पृ. 6)। प्रत्यक्षवाद के द्वारा मनुष्य को ''कर्ताओं'' में नहीं बल्कि ''भोक्ताओं'' में रूपांतरित किया जाता है। विवेकीकरण की प्रक्रिया इस तरह के रूपांतरण को चुनौती देती है। विवेकीकरण ''भोक्ताओं'' को पुनः ''कर्ताओं'' में रूपांतरित करने की प्रक्रिया है। 'विवेकीकरण से तो यह संम्भव होता है कि ऐसे लोग ऐतिहासिक प्रक्रिया में जिम्मेदार कर्ताओं के रूप में प्रवेश करें। विवेकीकरण उन्हें अपनी अभिपुष्टि (सेल्फ अफिर्मेशन) की खोज में लगाता है और इस प्रकार उन्हें मतांधता से बचाता है। (वही, पृ. 1–2)। प्रत्यक्षवाद ''तकनीक'' को महत्त्वपूर्ण बना देता है जिसमें 'दिये' के अनुसार व्यवहार करना ही नहीं, बल्कि 'दिये' गये के अनुसार और अच्छा व्यवहार करना ही ध्येय बना दिया जाता है। प्रत्यक्षवाद इस सवाल को पैदा होने से रोकता है कि जो 'है' वही क्यों है? जो दिया गया है वही क्यों दिया गया है? इस तरह प्रत्यक्षवाद ज्ञानमीमांसा को हाशिये पर धकेल देता है। ऐसा होने से मनुष्य अपने आप को एक दूसरे की सापेक्षता में नहीं खोज पाते और शक्ति संबंधों की पहचान करने के अवसरों से चूक जाते या जाती हैं।

''विवेचनात्मक (आलोचनात्मक) शिक्षा दो बुनियादी मान्यताओं पर चलती है। एक आलोचनात्मक शिक्षा के पास ऐसी भाषा हो जो पूर्वमान्यताओं पर सवाल उठाने में सक्षम हो, और आलोचनात्मक शिक्षा की दूसरी बुनियादी मान्यता यह है कि उसके पास संभावना की भाषा हो. 'वह समीक्षा से आगे बढ़कर, मानव सशक्तिकरण की सकारात्मक भाषा को प्रतिपादित करती है।'' (गिरौ, 2014, पृ. 21)। आलोचनात्मक होने के लिए यह मानना होता है कि जो है, वह ''दिया'' गया है और जो ''दिया'' गया है वह किन्हीं के द्वारा दिया गया है।

शिक्षित विद्यार्थी से राज्य और समाज क्या उम्मीद करता है? साथ ही विद्यार्थी अपने आप से क्या उम्मीद करते या करती हैं? इन उम्मीदों का बनना शिक्षा के उद्देश्य के बारे में राज्य, समाज तथा विद्यार्थी आदि की समझ पर भी निर्भर करता है। यदि ''शिक्षा का अर्थ लोगों को उस विश्व का ज्ञान कराना है, जिसमें वे रहते हैं– उन्हें यह बताना है कि यह विश्व उन्हें किस तरह आकार देता है और वे किस तरह विश्व को आकार देते हैं। शिक्षा को एक ऐसी संस्कृति का संचरण करना चाहिए जो लोगों के मन में इस चेतना को अच्छी तरह बैठा दे कि मनुष्य अपनी श्रमशक्ति द्वारा अपने सामाजिक परिवेश का निर्माता है और जिस

प्रकार वह प्रकृति पर प्रभाव डालकर उसे बदल देता है, उसी प्रकार वह अपने सामाजिक परिवेश पर प्रभाव डालकर उसे बदल सकता है और इस प्रक्रिया में खुद को बदल सकता है।'' (थ्योंगो, 2010, पृ. 193)। तब शिक्षा की प्रक्रिया को प्रत्यक्षवाद तथा व्यवहारवाद के शिकंजे से बाहर निकालने के प्रयास करना अनिवार्य हो जाता है।

आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र और भाषा-शिक्षण

आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र और भाषा-शिक्षण के बीच अंतर्संबंध को समझने के लिए मैं भाषा-शिक्षण के संदर्भ में इस्तेमाल की जाने वाली और प्रस्तावित दो भिन्न सृष्टियों से एक-एक उद्धरण सामने रख रहा हूँ। इन उद्धरणों के सहारे मैं भाषा-शिक्षण की आलोचनात्मक दृष्टि के संसार में प्रवेश करूँगा। भोलानाथ तिवारी और फ्रेरे के काम से लिए गए एक-एक उद्धरण का विश्लेषण करते हुए मैं भाषा-शिक्षण की आलोचनात्मक और गैर आलोचनात्मक दृष्टि को समझाने की कोशिश करूँगा। उद्धरण निम्न प्रकार से हैं:

पहला उद्धरण डा. भोलानाथ तिवारी (1980, पृ. 9) की किताब ''हिंदी भाषा-शिक्षण'' से लिया गया है। यह उदाहरण गैर-आलोचना आलोचनात्मक भाषा-शिक्षण का है। यानि भाषा-शिक्षण की गैर-आलोचनात्मक दृष्टि का है। यह उद्धरण भोलानाथ तिवारी की एक पुस्तक के पहले अध्याय से लिया गया है। जिसका शीर्षक है ''भाषा-शिक्षण और उसका उद्देश्य''। इसमें भोलानाथ तिवारी भाषा-शिक्षण की परिभाषा बताते हुए लिखते हैं कि- 'भाषा-शिक्षण से आशय है किसी भाषा के बोलने, सुनने, पढ़ने, और लिखने की शिक्षा देना। इसमें बोलने अथवा 'भाषण' का अर्थ है स्वर-व्यंजन के उच्चारण, संगम, अनुतान, बालाघात तथा व्याकरणिक नियमों आदि की दृष्टि से ठीक बोलना; 'श्रवण' का अर्थ है किसी को बोलते सुनना तथा सुनकर उसे समझ लेना; 'पठन' का अर्थ है मौन या मुखर रूप से किसी लिखित सामग्री को पढ़ना और उसे समझ लेना; तथा 'लेखन' का अर्थ है वर्तनी और व्याकरण आदि की दृष्टि से शुद्ध रूप में तथा अर्थ की दृष्टि से तर्कसंगत रूप में लिखना।''

दूसरा उदाहरण भाषा-शिक्षण की आलोचनात्मक दृष्टि का है। यह उदाहरण पाउलो फ्रेरे के एक लेख-''पठन कर्म का महत्व'' से लिया गया है। इस लेख में फ्रेरे लिखते हैं कि- ''पढ़ना सिर्फ लिखित शब्द या भाषा का अर्थ खोलना नहीं है। बल्कि पहले ज्ञान की दुनिया में प्रवेश करना और उसके साथ चलना पड़ता है। भाषा और यथार्थ एक दूसरे से जीवंत रूप से जुड़े हुए हैं। किसी विषयवस्तु का आलोचनात्मक पठन करने के बाद अर्जित समझ में निहित होता है कि विषयवस्तु और संदर्भ के बीच संबंध का बोध हो गया है।''

भाषा-शिक्षण के आलोचनात्मक और गैर-आलोचनात्मक उपर्युक्त उद्धरणों में अंतर्निहित दृष्टियाँ एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं, और इसी तरह के उद्धरण में छुपा है,

भाषा-शिक्षण की आलोचनात्मक और गैर-आलोचनात्मक दृष्टियों का अंतर।

भोलानाथ तिवारी भाषा-शिक्षण के जिस परिप्रेक्ष्य को सामने रख रहे हैं वह व्यवहारवादी है या उसे प्रत्यक्षवादी परिप्रेक्ष्य भी कह सकते हैं। इस परिप्रेक्ष्य का उद्देश्य, भाषा की तकनीकी कौशलों में कुशलता हासिल करना है ताकि सीखने वाला या सीखने वाली एक नियंत्रित स्थिति में नियंत्रित तरीके से भाषा का उपयोग कर सके। इस परिप्रेक्ष्य में भाषा का उपयोग भले ही कोई विद्यार्थी कर रहा या कर रही हो, लेकिन उसका नियंत्रण उसके बाहर किसी और के पास होता है। जो हर वक्त उन्हें बताती रहती है कि किसी लिखे या बोले हुए को उन्होंने जो समझा है वह, उसे नहीं समझा है जो नियंत्रण करने वाली या करने वाले के ज़हन में है। हम देख सकते हैं कि भोलानाथ तिवारी बोलने का अर्थ, उच्चारण करना और पढ़ने का अर्थ, लिखे को समझ लेना बता रहे हैं। जबकि फ्रेरे समझा रहे हैं कि पढ़ना 'ज्ञान की दुनिया में प्रवेश करना और उसके साथ चलना है'। वह समझा रहे हैं कि पढ़ना लिखे और लिखे के संदर्भ के बीच रिश्तों का बोध करने की प्रक्रिया है।

फ्रेरे और भोलानाथ तिवारी के जरिए भाषा-शिक्षण की आलोचनात्मक और गैर-आलोचनात्मक दृष्टिओं को समझने के लिए यहाँ पर दो स्थितियों के उदाहरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं। एक स्थिति का उदाहरण रमाकांत अग्निहोत्री (2001, पृ. 36) के एक लेख से है ''भाषा बोली व शोषण'' से लिया गया है। स्थिति इस प्रकार है;

''पतिः सात बज रहे होंगे।
पत्नीः चाय का पानी रख दिया है। अभी लाती हूं।
पतिः (हं) अखबार नहीं आया।
पत्नीः अभी लाती हूं।
पतिः चश्मा रखा था कहीं।
पत्नीः अभी देखती हूं।''

भाषा-शिक्षण की आलोचनात्मक और गैर-आलोचनात्मक दृष्टि में जो फर्क है उसे समझने के लिए दूसरी स्थिति का उदाहरण निम्न प्रकार से :

''पौड़ी गढ़वाल के एक गांव के बस स्टैंड का एक दृश्य है। पति और पत्नी शहर से गांव लौट रहे हैं। वह बस से उतरते हैं। यहां से उन्हें अपने गांव की तरफ पैदल जाना है। पति किन्हीं लोगों के साथ बातचीत में व्यस्त हो गया है। पत्नी कुछ सामान लेकर गांव की तरफ बढ़ जाती है। रास्ते में, उसे उसकी पहचान की एक औरत मिलती है। उनके बीच में वार्ता यहां पर पेश है:

औरत (''पत्नी'' से): कख भटे आ में? (कहाँ से आ रही है?)

''पत्नी'': दिल्ली भटे। (दिल्ली से)
''औरत'': त्यार मालिक कख च? (तेरा मालिक कहाँ है?)
''पत्नी'': पिछने आ मरि। (पीछे आ रहे हैं?)

ऊपर बताया गया दृश्य गढ़वाल के इलाके में अब भी आम है। इसमें शक की कोई गुंजाइश नहीं छोड़ी गई है कि पत्नी अपने पति की दास है और वह उसका मालिक है। कितनी सहजता से दोनों स्त्रियाँ पुरुष के वर्चस्व और प्रभुत्व के प्रति समर्पण का भाव प्रकट कर रही हैं। उनकी बातचीत में दासत्व की भाषा का विरोध नहीं है। लगता है पितृसत्ता के पक्ष में किया गया उनका सामाजीकरण इतना पुख्ता हो चला है कि सीखा हुआ व्यवहार उनकी आदत का हिस्सा बन गया है। यह वर्चस्व स्थापना की एक और बानगी है।'' (रावत, 2014, पृ.129)।

ऊपर दी गई दोनों ही स्थितियाँ स्त्री और पुरुष के बीच शक्ति संबंधों, संस्कृति, रिश्तों की बुनावट, अधिकार, कर्तव्य, सम्मान जैसी कई सामाजिक-सांस्कृतिक कोटियों को अपने में समेटे हुए हैं। परंतु भाषा के शिक्षण की गैर-आलोचनात्मक दृष्टि के लिए इस तरह की किसी भी कोटि का कोई महत्व नहीं है। उसकी निगाह में इन दोनों ही स्थितियों का तकनीकी उच्चारण या तकनीकी पठन पर्याप्त है। जबकि भाषा सीखने की इस तकनीकी समझ से आगे बढ़कर, भाषा के शिक्षण की आलोचनात्मक दृष्टि विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक कोटियों और अवधारणाओं के जरिए उपर्युक्त दोनों स्थितियों में पैठे ज्ञान पर विचार और काम करने की तरफ ले जाती है। ऐसा नहीं है कि इस तरह की स्थितियाँ केवल पाठ्यपुस्तकों के इतर की पुस्तकों या व्यापक समाज में ही दिखाई देती है। 'पुलिंग व स्त्रीलिंग के बारे में बनी-बनाई धारणाएँ व्यवहार के स्तर पर पुनर्निर्मित तो होती ही हैं और कई बार शायद अनजाने ही हमारी पाठ्यपुस्तकों द्वारा भी संचरित होती रही हैं।'' (भारतीय भाषाओं का शिक्षण, 2009, पृ. 6)। यदि ऐसा है तो यह एक गंभीर मामला है, क्योंकि शिक्षा के जरिए विद्यार्थियों को नागरिकों में रूपांतरित करना भारत की शिक्षा व्यवस्था का एक घोषित उद्देश्य है, ''इसलिए भाषा में इस पक्ष को अति गंभीरतापूर्वक लेने की जरुरत है।'' (वही)।

यदि ''...भाषा सामाजिक वास्तविकता का सक्रिय रूप से निर्माण करती है और उसे प्रतिबिंबित भी करती है, कि भाषा हमेशा अंतर की भावना– यदि कोई चीज यह है तो वह यह नहीं है– से पैदा होती है और कि भाषा हमेशा विशेष तरह के मूल्यों को प्रस्तुत करती है तो आप सवाल उठा सकते हैं। आप पूछ सकते हैं कि जो पढ़ाया जाता है उसमें और स्थापित शिक्षाशास्त्रों में क्या संबंध है? वे जिस भाषा का प्रयोग करते हैं वह कहाँ से आई है? वह

किन हितों को बढ़ावा देती है? उसकी मूल्य मान्यताएं क्या हैं?'' (गौी, 2014, पृ. 26). भाषा–शिक्षण कि वह दृष्टि जो पाठों के जरिए विभिन्न संस्कृतियों में और उन संस्कृतियों में पैठी विभिन्न प्रकार की शक्ति की अवधारणाओं को रेखांकित करने, चुनौती देने, और व्यावहारिक स्तर पर उनके विकल्प तलाशने की तरफ ले जाती है, वह भाषा–शिक्षण का आलोचनात्मक रूप है। बहुत से लोग संस्कृति और भाषा के बीच अंतर्संबंध को इस रूप में व्याख्यायित करते हैं कि भाषा का काम संस्कृति को स्वीकार्य बनाते हुए एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुंचाना है या एक सामाजिक समूह से दूसरे सामाजिक समूह तक पहुंचाना है। लेकिन यह संस्कृति की बहुत ही छिछली परिभाषा है। दरअसल 'संस्कृति उन प्रक्रियाओं का नाम है जो हमारे जीवन को अर्थ देती हैं।'' (अहमद, 2011, पृ. 10)। अर्थ देने की प्रक्रिया में जहाँ एक ओर सहयोग हो सकता है वहीं दूसरी ओर शोषण और उत्पीड़न भी हो सकता है। कोई समूह X दूसरे समूह Y का उत्पीड़न करने के लिए उसके जीवन को तथा उसकी विभिन्न गतिविधियों को, उसके अधिकारों को, उसके कर्तव्यों को, इस तरह का अर्थ दे सकता है कि समूह X द्वारा समूह Y का उत्पीड़न करना आसान हो जाए और समूह Y द्वारा, समूह X द्वारा किये जाने वाले उत्पीड़न का प्रतिकार करना मुश्किल हो जाए। आलोचनात्मक शिक्षाशास्त्र, भाषा की उस सांस्कृतिक भूमिका की पहचान और वकालत करता है जिसके द्वारा संस्कृति को एक अर्थ देने की प्रक्रिया के रूप में पहचाना जाए न कि किसी फिनिश्ड प्रोडक्ट के रूप में। ''सांस्कृतिक अध्ययन की पैरवी करने वाले बहुत सारे जानकारों ने संस्कृति की, प्रतिरोध और यूटोपियन संभावनाओं, दोनों ही की जगह (साइट) के रूप में पहचान की है।'' (गिरौ, 2004, पृ. 60). शिक्षा के द्वारा संस्कृति पर विचार करने का ख्याल तभी आ सकता है जब हम संस्कृति को ''अर्थ देने की प्रक्रिया'' के रूप में समझें न कि किसी फिनिश्ड प्रोडक्ट के रूप में। इसी समझ में अर्थों की नई संभावनाओं पर विचार किया जा सकता है, नई संभावनाओं की कल्पना की जा सकती है, और उन संभावनाओं को व्यवहारिक बनाया जा सकता है। आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र ''धारण की गई प्रथाओं और मान्यताओं पर सवाल करने का विशेष चलन और विशेष भंगिमा'' है)। (गिरौ, 2014, पृ. 20)। वह भंगिमा है, शिक्षा की सामग्री सहित पूरी प्रक्रिया पर इस तरह के सवाल उठाना ताकि उसमें पैठे विभिन्न विचार तंत्रों में अंतर्निहित शक्ति समीकरणों को पहचाना जा सके और उन्हें पहचान कर अधिक लोकतान्त्रिक और समतामूलक बनाने के लिए विद्यार्थियों के साथ मिलकर काम किया जा सके। क्योंकि ''आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र का महत्व लोकतान्त्रिक राजनीति की संभावनाओं को फैलाने के वृहद प्रोजेक्ट के रूप में है।'' (गिरौ, 2004, पृ. 60)। लोकतान्त्रिक संस्कृति को और अधिक विकसित करने के ऐसे प्रोजेक्ट में भाषा की भूमिका बहुत ही महत्वपूर्ण हो जाती है, क्योंकि भाषा के जरिए हम

न केवल कुशलताओं को विकसित करते हैं बल्कि छवियाँ, विचार और प्रतीक भी गढ़ते हैं। छवियां, प्रतीक, और विचार हमारे जीवन के माइक्रो (व्यष्टि) और मैक्रो (समष्टि), दोनों स्तरों को प्रभावित करते हैं। आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में भाषा का शिक्षण उसके तकनीकी महत्व से बहुत आगे बढ़कर उसके राजनीतिक और सांस्कृतिक महत्व तक जाता है जहाँ ''विद्यार्थी वस्तु या पाठ वस्तु के पीछे के 'क्यों' या उसके कारणों को सीखने के क्रम में 'सीखना सीखते हैं'।'' (फ्रेरे, 2010, पृ.87).

भाषा-शिक्षण के बारे में एक समझ वह है जो भाषा के तकनीकी पक्षों को ही महत्त्वपूर्ण मानती है। इस समझ के अनुसार भाषा-शिक्षण का उपयोग भाषा सिखाने के लिए ही किया जाना चाहिए। उसका उपयोग विवेकशील बनाने के किसी अन्य मकसद के लिए नहीं किया जाना चाहिए। पासमोर (2011) ने अपने एक लेख में लिखा है कि:

> ''आर.एस. पीटर्स ने हाल ही में यह तर्क किया था कि 'इतिहास तथा साहित्य जैसे अनुशासन तब भ्रष्ट और विकृत हो जाते हैं जब उनका आलोचनात्मक चिंतन विकसित करने के लिए सायास उपयोग किया जाए।' मुझे लगता है कि जो बात उनके दिमाग में रही होगी वह यह है कि इतिहास तथा साहित्य अध्ययन को किसी दूसरी वस्तु को हासिल करने के लिए, उदाहरण के लिए, आलोचनात्मक चिंतन के कौशल को पाने का माध्यम नहीं बनाना चाहिए। परंतु सच्चाई यह है कि इतिहास और साहित्य की कक्षाएँ शिक्षक को ऐसे अवसर उपलब्ध करवाती हैं जिनमें वह कई प्रकार की मानवीय गतिविधियों के साथ साहित्य तथा इतिहास पर भी आलोचनात्मक चर्चा कर सके। यह कोई नहीं चाहेगा कि साहित्य और इतिहास के सारे पाठ सिर्फ एक ऐसी ही चर्चाओं में बदल जाएँ। परंतु इतिहास तथा साहित्य के अध्ययन को मानवीय संबंधों की समझ से पृथक रखना भी उतनी ही बड़ी भूल होगी।'' (पृ. 15-16).

साहित्यिक रचनाएँ, साहित्यिक के तत्त्वों की मदद से विद्यार्थियों के सामने ऐसी स्थितियाँ रखती हैं जिनका संदर्भ होता है और जो वास्तविक जिंदगी के करीब होती हैं। साहित्य में पात्र होते हैं, पात्रों की भाषा होती है, देश-काल होता है। यह और इस तरह के अन्य तत्त्व मिलकर, रचना के भीतर से एक ऐसा वातावरण पैदा करते हैं जिसके सहारे कक्षाओं में संवाद को विकसित किया जा सकता है। क्योंकि रचना के पात्रों में आपस में संबंध होते हैं और यह संबंध सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, और राजनीतिक हो सकते हैं। इसलिए इन संबंधों के बीच शक्ति के कई समीकरण और स्तरीकरण की विभिन्न दशाएँ देखने में आ सकती हैं। यदि साहित्य के जरिए भाषा शिक्षण करते समय साहित्य के उपर्युक्त तत्त्वों का शिक्षणशास्त्रीय इस्तेमाल नहीं किया जाता है तो ऐसे में साहित्य के जरिए भाषा के शिक्षण

का कोई विशेष औचित्य नहीं रह जाता है। क्योंकि प्रत्येक साहित्य का कोई ना कोई उद्देश्य होता है और यह उद्देश्य सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, और राजनीतिक में से कोई एक या इनका मिलाजुला रूप हो सकता है। यह उद्देश्य साहित्यिक रचना के अंदर पात्रों के चयन, उनके संवाद, देशकाल, वातावरण और कथानक के जरिए पाठकों तक पहुंचाया जाता है। आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र यह प्रस्तावित करता है कि किसी साहित्यिक रचना के उद्देश्य को समझना, और जरुरत पड़ने पर वैकल्पिक उद्देश्यों की रचना करना साहित्य के जरिए भाषा के शिक्षण को करवाने का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य होना चाहिए। साहित्य के जरिए विद्यार्थियों की कल्पना शक्ति को विस्तार दिया जाता है और कल्पना शक्ति को विकसित करना आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र का एक प्रमुख लक्ष्य है। क्योंकि कल्पना शक्ति के विकसित होने से ही विद्यार्थी बेहतर सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक स्थितियों का स्वप्न देख सकते हैं और यदि वे स्वप्न देख सकते हैं तो उसे सार्थक करने के लिए प्रयास भी कर सकते हैं। इस उद्देश्य के लिए हिंदी की कक्षाओं में साहित्य की रचनाओं का आलोचनात्मक सिद्धांतों के आधार पर उपयोग बहुत मददगार साबित हो सकता है।

संस्कृति का विचारधारात्मक परिप्रेक्ष्य और भाषा-शिक्षण

राष्ट्रीय शिक्षा नीति-1986 के अनुसार भारत में शिक्षा के लक्ष्य वही हैं जो संविधान में दर्ज मूल्य है। इसका अर्थ यह है कि भारतीय शिक्षा व्यवस्था, भारतीय राजनीतिक व्यवस्था से अलगाव की व्यवस्था नहीं है। और क्योंकि भाषा की शिक्षा, भारतीय शिक्षा व्यवस्था का एक पक्ष है, इसलिए भाषा की शिक्षा का संबंध भी भारत की राजनीतिक व्यवस्था के साथ है। यदि यह मान्यता तर्कपूर्ण है तो फिर भाषा की शिक्षा का चरित्र कैसा होना चाहिए? क्या उसमें इस बात की संभावना होनी चाहिए कि विद्यार्थी विवेकशील हों और विवेकशील, आलोचनात्मक होने के संदर्भों में हों, जिससे वह भारत के संविधान में दर्ज मूल्यों को पैमाना बनाकर अपने आसपास की सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक संरचना को समझें और जरुरत पड़ने पर उस संरचनाओं के विकल्पों को सृजित कर सकें और उनको व्यवहार में लाने की रणनीतियाँ बना सकें। उनके पास ऐसे मानदंड होने चाहिए जिससे वह उन तमाम तरह की संरचनाओं का मूल्यांकन कर सकें, उन पर सवाल उठा सकें और बेहतर संरचनाओं के लिए विकल्प पेश कर सकें जिनमें शक्ति-सम्बंधों का संयोजन रहता है। एनसीईआरटी द्वारा, माध्यमिक तथा उच्च माध्यमिक कक्षाओं के लिए बनाए गए पाठ्यक्रम में लिखा हुआ है कि भाषा-शिक्षण का उद्देश्य ''विद्यार्थियों को हमारी समृद्ध संस्कृति, विरासत और समसामयिक जीवन के पक्षों से परिचित कराने के लिए...'' किया जाना चाहिए। (2006, पृ. 167)। 'शिक्षा के लक्ष्य' पर तैयार राष्ट्रीय फोकस समूह के आधार-पत्र (2007, पृ. 7) में 'भाषा, परंपरा तथा समझदारी' नाम के विशेष अंश में लिखा हुआ है कि,

शिक्षा के उद्देश्यों को हासिल करने में भाषा की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। इस आधार-पत्र में कहा गया है कि भाषा के माध्यम से 'हम दूसरों से अंत:क्रिया करते समय पदानुक्रम के पैटर्न और उसकी संरचना, शक्ति और सामर्थ्य, अधीनीकरण तथा दमन, नियंत्रण और प्रभुत्व का अनुभव करते हैं और इनसे परिचित हो जाते हैं।'' (वही)। आधार पत्र हो, पाठ्यक्रम यानि पाठ्यचर्या, तीनों में ही भाषा के जरिए 'संस्कृति' और 'विरासत' से 'परिचित' होने पर जोर दिया गया है। लेकिन भाषा के जरिए हम 'संस्कृति' से परिचित ही नहीं होते बल्कि उसे समझते भी हैं और बदलते भी हैं। इतिहास में ऐसा कई बार देखा गया है कि भाषा का उपयोग 'संस्कृति' को चुनौती देने और उसे रूपांतरित करने के लिए किया गया। प्रस्तुत शोध के संदर्भ में, शोधार्थी ने पाया की भाषा की समझ और उससे लिए जाने वाले कामों को सीमित करके आंका गया है। शोध के जरिए भाषा को रूपांतरकारी भूमिका में उपयोग करने की संभावना पर काम किया जा सकता है जो भाषा के द्वारा 'संस्कृति' और 'विरासत' से परिचित होने से काफी आगे जाता है। यदि हम मानते हैं कि भाषा 'सामाजिक वास्तविकता का सक्रिय' निर्माण है तो यह सवाल उठता है कि वे 'वास्तविकताएँ' किसके जीवन और किसकी विश्व-दृष्टि का प्रतिबिम्बन करती हैं। यदि भाषा का उपयोग शक्तिशाली, प्रभुत्त्वशाली, और वर्चस्वशाली की विश्व-दृष्टि का ही प्रतिबिम्बन करने के लिए ही किया जा रहा हो, तब इसका उपयोग वैकल्पिक विश्व-दृष्टियों की रचना करने के लिए किया जाना चाहिए और काम के लिए भाषा का उपयोग किया जाना चाहिए।

यह बात पहले ही कह चुका हूँ कि आलोचनात्मक सिद्धांत और आलोचनात्मक शिक्षाशास्त्र मुख्यत: प्रत्यक्षवाद (पॉजिटिविज्म) की ज्ञान संबंधी मान्यताओं के विकल्प के तौर पर विकसित हुआ। ज्ञान की प्रत्यक्षवादी परम्परा में ऑब्जेक्टिविटी (वस्तुनिष्ठता) को इतना महत्वपूर्ण माना जाता है कि वह सीखने-सिखाने के पूरे तंत्र को एक मशीनी प्रक्रिया में तब्दील कर देता है, जहाँ पर इंसानी हस्तक्षेप की संभावनाएं लगभग शून्य हो जाती हैं। क्योंकि प्रत्यक्षवादी उपागम का मुख्य उद्देश्य व्यक्तियों को नियंत्रित करना है। इस प्रकार के उपागम के तहत, ज्ञान से जुड़ी हुई और सामाजिक विज्ञान से जुड़ी हुई सच्चाइयों को इस तरह से पेश किया जाता है कि उन्हें स्थापित करके, मनुष्यों को नियंत्रित किया जा सके, और उन्हें नियंत्रित करके समाज की अलग-अलग संरचनाओं को नियंत्रित किया जा सके। प्रत्यक्षवाद के अंतर्गत सामाजिक स्थितियों का विवरण दिया जाता है। लेकिन विवरण ही पर्याप्त नहीं है। क्योंकि जो कुछ है, वह दिया हुआ है, और जो दिया हुआ है, वह किसी के द्वारा दिया गया है। प्रत्यक्षवाद यह तो बताता है कि क्या है? लोग क्या सोचते हैं? लेकिन वह यह नहीं बताता कि जो है वह क्यों है और लोग जो सोचते हैं वे वैसा क्यों सोचते हैं? आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र, भाषा-शिक्षण की कक्षाओं के

माध्यम से ऐसे सवालों को उठाने और उनके उत्तर खोजने के लिए वातावरण का सृजन कर सकता है।

हेबरमास के अनुसार ज्ञान, रुचि से निकलता है और वह हमारे ज्ञान प्राप्ति के लिए जरुरी कॉग्निटिव इंटरेस्ट (संज्ञानात्मक रुचि) पैदा करती है। यह रुचियाँ हैं, पहली– भविष्य कथन करने और नियंत्रित करने की, दूसरी– समझने और व्याख्या करने की, तीसरी– रूपांतरण और मुक्ति की। (कोहेन, 2000, पृ. 27–34)। इन तीन तरह की रुचियों को ध्यान में रखते हुए भाषा की कक्षाओं में आलोचनात्मक सिद्धांत और आलोचनात्मक शिक्षण–शास्त्र का उपयोग किया जा सकता है।

जॉन डीवी (as sited in Eisner, 1998, पृ. 31) ने अपनी किताब 'आर्ट एज एक्सपीरियंस'' में, स्टेट करने वक्तव्य देने और एक्सप्रेस करने (अभिव्यक्त करने) के बीच अंतर को समझाया है। उनका मानना है कि विज्ञान जैसे विषयों में स्टेट किया जाता है, जबकि सामाजिक विज्ञान में हम एक्सप्रेस करते हैं। उनके अनुसार स्टेट करना पारदर्शी (transparent) होता है। यानि उसे सुन या पढ़कर हम उसके संदर्भ बिंदु (referents) तक सीधे पहुँच सकते हैं, जबकि एक्सप्रेशन अपारदर्शी (opaque) होता है। उस तक पहुँचने के लिए, उसके संदर्भ बिंदु तक पहुँचने के लिए एक विशेष प्रकार की मशक्कत करने की जरुरत होती है। ऐसी किसी भी मशक्कत के लिए भाषा का पाठ्यक्रम, पाठ्यपुस्तकें, तथा कक्षाएँ बहुत से संदर्भ उपलब्ध करवाती हैं। इन संदर्भों को आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र के दायरे में लाने से भाषा का शिक्षण, 'स्टेट' करने की व्यवहारवादी स्थिति से आगे बढ़कर 'एक्सप्रेस' करने की आलोचनात्मक और संभावनाशील स्थिति की तरफ अग्रसर होकर विद्यार्थियों में लोकतान्त्रिक चेतना का विकास कर सकता है।

संदर्भ

एप्पल, माइकल (2006): *एजुकेशन द राइट वे: मार्केट, स्टेंडर्ड्स, गॉड एंड इनइक्वालिटी,* न्यूयार्क: रूटलेज फालमर

चाम्स्की, नोम (1967): ए रिब्यू ऑफ बी.एफ. स्कीनर वर्बल बिहेवियर. इन लोन. जैकोविस्ट एंड मूरी एस. माइरन (एडी.) *रीडिंग द साइकोलॉजी आफ लैंग्वेज.* प्रैंटिस एंड हॉल, de/phil/english/sections/linguist/independent/kursmaterialien/generative/chomsky& review Skinner.pdf.

कोहेन, लुइस (2000) *नेचर ऑफ इन्क्वायरी. इन रिसर्च मैथ्ड इन एजुकेशन* (5वां संस्करण) 27–34) लंदन एंड न्यूयार्क: रूटलेज – फाल्मर टेलर – फ्रांसिस ग्रुप.

क्रिटिकल थ्योरी http%//plato.stanford.edu/enries/critical-theory. retrieved on 21.7.18

एजनर, एलियट डब्ल्यु. (1998): द *इनलाइटन्ड आइ: क्वालिटेटिव इन्क्वायरी एंड द इन्हान्समेंट आफ एजुकेशनल प्रैक्टिस* (33–40), न्यूजर्सी: प्रिन्टिस हॉल.

एरिक, फ्रोम (2001): *डैमोक्रेसी एंड एजुकेशन. इन द फीयर आफ फ्रीडम* (207-237). लंदन: रूटलेज

फ्रेरे, पाउलो (1978): *पेडागागी इन प्रोसेस: द लैटर टू गिनिया एंड बिसाउ.* न्यूयार्क: सीबरी प्रैस

फ्रेरे, पाउलो *ऑन क्रिटिकल पेडागागी* http://daily.struggles.tumblr.com/post/18785753110/paulo.freire.and.the.role.of.critical.pedagogy. retrieved on 21.7.18.

जैण्डर इश्यू इन एजुकेशन: पोजिशन पेपर, नेशनल फोकस ग्रुप रिपोर्ट (2006): नई दिल्ली: एनसीईआरटी. गिरौ हेनरी (मार्च, 2004) कल्चर स्टडी, पब्लिक पैडागॉगी एंड द रिसपॉन्सिबिलिटी आफ इंटलैक्चुअल. कम्युनिकेशन एंड क्रिटिकल/कल्चर स्टडीज. वाल्यूम.1, नं.1 मार्च 2004। रूटलेज टेलर. फ्रांसिस ग्रुप: 59-79. रिट्रीव्ड अक्टूबर 10, 2018 https://www.tandfonline.com/doi/pdf/10.1080/147914204200 0180926.

गिरौ, हेनरी ए. (1981): *आइडोलॉजी कल्चर एंड द प्रोसेस ऑफ स्कूलिंग.* लन्दन: इ फाल्मर प्रैस

किंचलै, जो एल. (2003): *ह्वट कंस्टीट्यूट नौलेज. इन टीचर्स एज रिसर्चर: क्वालिटेटिव इन्क्वायरी. ए पाथ टू एम्पावरमेंट* (2nd एडीसन, 91-109) लंदन: रूटलेज फाल्मर.

नेशनल पॉलिसी आन एजुकेशन-1986. शिक्षा विभाग, मा.सं.वि.मं., भारत सरकार, नई दिल्ली

टेलर, स्टेवन जे., बॉडन, राबर्ट (1984): *गो टू द पीपुल. इंट्रोडक्शन टू क्वालिटेटिव रिसर्च मैथ्ड: द सर्च फॉर मीनिंग* (2nd एडीसन, 1-12), न्यूयार्क

टिंग, हाँग एंड माइकल डब्ल्यु एप्पल (2002): *रिथिंकिंग द एजुकेशन/स्टेट फार्मेशन कनैक्शन: पैडागॉगिक रिफार्म इन सिंगापुर. इन कम्परेटिव एजुकेशन रिब्यू,* 46,2,1945.65: द कंपरेटिव एंड इंटरनेशनल एजुकेशन सोसायटी।

विटगैंस्टिन, लुडविग (1958): *फिलासॉफिकल इंवैस्टीगेशन.* ऑक्सफोर्ड: बेसिल ब्लैकवैल.

गिरौ, हेनरी (1988). *टूवार्ड न्यू सोशियोलॉजी आफ करीकुलुम. टीचर्स एज इंटलैक्चुअल: टूवार्ड्स क्रिटिकल पैडागॉगी ऑफ लर्निंग.* लन्दन: वर्गिन एंड गारवे.

गिरौ, हेनरी (2015). *एन इंटरव्यू विद गिरौ.* रिट्रिव्ड 9.12.15.

जैनीफर एम. (1998). *ऑन द लिमिट टू इम्पावरमेंट थ्रू क्रिटिकल एंड फेमिनिस्ट पैडागॉगी. इन पावर/नॉलेज/पेडागॉगी* (271-288). डेनिस कार्लसन एंड माइकल डब्ल्यु. एप्पल औफोर्ड: वैस्टव्यू प्रैस.

डिवी, जॉन (1948): *एक्सपीरियन्स एंड एजुकेशन.* न्यूयार्क: द मैकमिलन कम्पनी.

बर्नस्टैन बैसिल (1985): *ऑन द फार्मिंग एंड क्लासिफिकेशन ऑफ एजुकेशनल नॉलेज. इन सोसियोलॉजिकल पर्सपैक्टिव इन एजुकेशन।* सुरेश चन्द्र शुक्ला एंड कृष्ण कुमार (संपादक) दिल्ली: चाणक्य पब्लिकेशन.

बटमोर, टॉम (2007): *द फ्रैंकफर्ट स्कूल एंड इट्स क्रिटिक.* लन्दन एंड न्यूयार्क: रूटलेज

राव, वी. प्रमिला (2010): *एजुकेट वूमन एंड लूज नेशनलिटी.* नई दिल्ली: क्रिटिकल क्वेस्ट.

अग्निहोत्री, रामाकांत (2001): *भाषा, बोली व शोषण. भाषा, बोली और समाज:* एक अंत: संवाद में. रमाकांत अग्निहोत्री और संजय कुमार(सं). दिल्ली: देशकाल प्रकाशन.

अहमद, एजाज (2011): *साक्षात्कार. संस्कृति और व्यावसायिकता* में (9–24). रमेश उपाध्याय संज्ञा उपाध्याय (सं). नई दिल्ली: शब्द संधान.

एडर्नो, टी.डब्ल्यू (2006): *संस्कृति उद्योग.* दिल्ली: ग्रन्थ शिल्पी.

कुमार, कृष्ण (2000). *बच्चे की भाषा और अध्यापक: एक निर्देशिका.* नई दिल्ली: एनबीटी

चक्रवर्ती, उमा (2010). *पुरुष, महिला और संघर्षरत परिवार. जेंडर और शिक्षा* रीडर भाग 1 में. नई दिल्ली: निरंतर.

जीरू, हेनरी (2014). *संस्कृति और शिक्षा की राजनीति.* नई दिल्ली: ग्रन्थ शिल्पी.

जीरू, हेनरी ए (2014). *संस्कृतिकर्मी और शिक्षा की राजनीति.* नई दिल्ली: ग्रन्थ शिल्पी.

टैगोर, रवीन्द्रनाथ (2013). शिक्षा का मिलन. शिक्षा का विस्तार तथा अन्य निबंध में (43–64). नई दिल्ली: सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन.

तिवारी, डॉ. भोलानाथ तथा कैलाशचन्द्र भाटिया (1980). *भाषा–शिक्षण और उसका उद्देश्य.* हिंदी भाषा–शिक्षण में. दिल्ली: साहित्य सहकार.

तिवारी, डॉ. भोलानाथ. *भाषा और अर्थव्यवस्था. भाषा और संस्कृति में* (151–152). दिल्ली

थ्योंगो, न्गुगी वा (1999). *साहित्य में नस्लवाद. औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्ति में.* दिल्ली

थ्योंगो, न्गुगी वा (2010). *औपनिवेशिक दासता से मुक्ति: शिक्षा और संस्कृति की राजनीति.* दिल्ली

दयाकृष्ण (1997). *ज्ञान मीमांसा.* जयपुर: राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी.

पाउलो (1997). *उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र.* नई दिल्ली: ग्रंथ शिल्पी.

पाउलो (2010) *उम्मीदों का शिक्षाशास्त्र.* नई दिल्ली: ग्रंथ शिल्पी.

पासमोर, ज्रन (2011). *आलोचनात्मक बनना सिखाना.* शैक्षिक सन्दर्भ. अंक, मार्च–अप्रैल, 2011, 6–16. भोपाल: एक्लव्य.

प्रारंभिक कक्षाओं के लिए पाठ्यक्रम. Vol.-I (2006). नई दिल्ली: एनसीईआरटी

फ्रेरे, पाउलो (2010). *पठन कर्म का महत्व.* शैक्षिक संदर्भ. जुलाई–अगस्त 2010. भोपाल: एकलव्य. 22–26.

ब्रिटन, जेम्स (2006). *भाषा और अधिगम.* नई दिल्ली: ग्रंथ शिल्पी.

भारतीय भाषाओं का शिक्षण: राष्ट्रीय फोकस समूह का आधार पत्र (2009). दिल्ली: एनसीईआरटी.

माध्यमिक और उच्च–माध्यमिक कक्षाओं के लिए पाठ्यक्रम. Vol. II (2006). दिल्ली: एनसीईआरटी.

रावत, बीरेंद्र सिंह (2014). *पितृसत्ता के कुटीर उद्योग: कुछ अवलोकन. समाज, बच्चे–बच्चियाँ और शिक्षा में.* दिल्ली: यश पब्लिकेशन.

रावत, बीरेंद्र सिंह एवं रजिनी (2016). *भाषा–शिक्षण में आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य की संभावना.* परिप्रेक्ष्य (दिसंबर, 2016). पृ. 57–70. न्यूपा, नई दिल्ली

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या प्रारूप–2005. दिल्ली: एनसीईआरटी.

वोलोशिनोव, वी. एन. (2002). *मार्क्सवाद और भाषा का दर्शन.* दिल्ली: राजकमल.

हेनरी जीरू (2014). *संस्कृति और शिक्षा की राजनीति.* नई दिल्ली: ग्रंथ शिल्पी.

परिप्रेक्ष्य
वर्ष 25, अंक 2, अगस्त 2018

शोध टिप्पणी/संवाद

पास-फेल पर राजनीति
शिक्षा का अधिकार में दूसरा संशोधन

गुंजन शर्मा*

सारांश

यह आलेख शिक्षा का अधिकार (आर.टी.ई.) अधिनियम 2009 की धारा 16 (नो डिटेन्शन) में संशोधन से उपजी समस्या और बच्चों के शिक्षा का अधिकार अधिनियम से जुड़ी राजनीति को प्रस्तुत करता है। इस आलेख का पहला भाग इस संशोधन की रूपरेखा को प्रस्तुत करता है, दूसरा भाग इससे जुड़ी बहस को समझाता है, तीसरा भाग इस संशोधन के व्यापक प्रभाव पर चर्चा करता है, और आखरी हिस्सा एन.डी.पी. (नो डिटेन्शन पालिसी) के कार्यान्वयन की समस्या को इस मुद्दे पर हुई बहस से जोड़ता है। यह लेख मूल रूप से यह तर्क प्रस्तुत करता है कि आर.टी.ई. में इस संशोधन का असर सिर्फ बच्चों को पास या फेल करने के मसले तक सीमित नहीं है। किसी शोधपरक आलेख और विमर्श के बगैर एन.डी.पी. को व्यवस्थित रूप से विरल करना, आर.टी.ई. अधिनियम की कई धाराओं को क्रमिक रूप से प्रभावित करेगा, साथ ही यह इसको लेकर चले शिक्षाई विमर्श में हुई प्रगति को भी अघात पहुंचाएगा।

आर.टी.ई. में दूसरे संशोधन की रूपरेखा

बच्चों के नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा का अधिकार अधिनियम (आर.टी.ई.), 2009, की धारा 16 को हाल ही में संशोधित करने की प्रक्रिया शुरू की गई थी, और इसके संशोधन को लोकसभा ने 18 जुलाई 2018 को और राज्यसभा ने 3 जनवरी 2019 और

*संकाय सदस्य, अम्बेडकर विश्वविद्यालय, दिल्ली E-mail: gunjan@aud.ac.in

लोकसभा ने फिर से 7 जनवरी को पारित कर दिया है। इसका निर्णायक रूप से अनुमोदन राष्ट्रपति ने 10 जनवरी 2019 को किया। बहरहाल शिक्षा का अधिकार अधिनियम में दूसरा संशोधन हो चुका है।

आर.टी.ई. की धारा 16 को मुख्य रूप से 'नो डिटेन्शन' या बच्चों को फेल न करने वाले प्रावधान के रूप में जाना जाता था। इसमें यह स्पष्ट रूप से कहा गया था कि 'स्कूल में दाखिल किये गए किसी भी बच्चे को उसी कक्षा में वापस नहीं रखा जाएगा और प्रारंभिक शिक्षा के पूरा होने तक उसे स्कूल से निष्कासित नहीं किया जाएगा।' अप्रैल 2010 में आर.टी.ई. के लागू होने के बाद से, स्कूल शिक्षा से जुड़े कई लोगों द्वारा ये तर्क दिया गया कि भारत के स्कूलों की वास्तविकताओं के मद्देनज़र बच्चों को फेल न करने का प्रावधान (एन.डी.पी.) न तो व्यावहारिक है, और न ही वांछनीय है। इसके मद्देनज़र आर.टी.ई. अधिनियम में शामिल एन.डी.पी. (नो डिटेंशन पालिसी यानि बच्चों को फेल न करने कि नीति) और सी.सी.ई. (सतत एवं व्यापक मूल्यांकन) के प्रावधान के आकलन और कार्यान्वयन के लिए केब (केंद्रीय सलाहकार शिक्षा समिति) की एक उपसमीति गठित की गई थी, (अध्यक्ष, श्रीमती गीता भुक्कल, तत्कालीन शिक्षा मंत्री, हरियाणा)। इस उप-समिति ने जुलाई 2014 में आरम्भिक कक्षाओं में, खासकर पांचवीं कक्षा के बाद, बच्चों के फेल करने के प्रावधान को फिर से लागू करने के लिए सिफारिश (सर्वसम्मति से नहीं) के साथ अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की।

एक के बाद एक चली प्रक्रियाओं (जैसे– शिक्षा के लिए नई राष्ट्रीय नीति पर देशव्यापी परामर्श, बच्चों को फेल न करने के प्रावधान के खिलाफ अधिकतर राज्य सरकारों की ओर से दिए गए ज्ञापन, और इसी तरह कि कई अन्य घटनाएँ) के बाद 10 जनवरी 2019 को, बच्चों का नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा अधिकार (दूसरा संशोधन) अधिनियम को राष्ट्रपति की अनुमति मिल गई। संशोधित धारा 16 के कथ्य निम्न हैं:

16.(1) प्रत्येक शैक्षिक वर्ष के अंत में, पांचवीं कक्षा में और आठवीं कक्षा में नियमित परीक्षा होगी।

(2) यदि कोई बच्चा उपधारा(1) में निर्दिष्ट परीक्षा में फेल रहता है, तो उसे अतिरिक्त निर्देश दिया जाएगा (*यहाँ इस धारा में शिक्षण होना चाहिए था पर इस संशोधन में इंस्ट्रक्शन लिखा है जिसका अनुवाद निर्देश ही होगा*) और परीक्षा परिणाम की घोषणा की तारीख से दो महीने की अवधि के भीतर पुन:परीक्षा के अवसर प्रदान किए जाएंगे।

(3) उपयुक्त सरकार स्कूलों को, पांचवीं कक्षा में या आठवीं कक्षा में या दोनों कक्षाओं में, बच्चों को फेल करने की अनुमति दे सकती है, यदि वह उपधारा (2) में ज़िक्र किये गए परीक्षा में फिर से फेल हो जाएं: तब उपयुक्त सरकार प्राथमिक शिक्षा के पूरा होने तक किसी भी कक्षा में किसी बच्चे को फेल न करने का निर्णय ले सकती है।

(4) किसी बालक को प्रारंभिक शिक्षा पूरी किये जाने तक विद्यालय से निष्काषित नहीं किया जायेगा।

इसके साथ ही धारा 38 में एक उप-धारा जोड़ी गई कि– राज्य ऐसे कानून बना सकेगा जिसके तहत रहते हुए धारा 16 की उपधारा(3) के अधीन किसी बालक को रोका जा सकेगा।

इस संशोधन के तहत, अब राज्य सरकारें यह तय करने में सक्षम होंगी कि पांचवीं कक्षा और आठवीं कक्षा में छात्रों को फेल करना है या नहीं। 'मौलिक अधिकार' को लागू करने वाले इस अधिनियम में, मनमानी करने की ऐसी गुंजाईंश, बच्चों के लिए सुसंगत शैक्षणिक अनुभव को सुनिश्चित करने के निर्धारित लक्ष्य को न सिर्फ नुकसान पहुंचाएगी बल्कि खत्म भी कर सकती है। इसके अनुमानित नुकसानों पर चर्चा एक अलग विषय हो सकता है, पर यह सवाल ज्यादा है कि इस संशोधन के पारित हो जाने के बाद राज्य स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चों को फेल करने का निर्णय ले सकता है पर यह 'विकल्प' मात्र अपने आप में बच्चों के मौलिक अधिकार को कम करता है।

पास-फेल करने की वयवस्था पर बहस

नीति निर्माताओं सहित शिक्षा की इस व्यवस्था के अन्य हितधारकों, जिनमे बच्चों के माता-पिता भी शामिल हैं, मानते हैं कि,'न फेल करने की नीति' शिक्षा की गुणवत्ता को कम करने के लिए जिम्मेदार है। ऐसा तर्क दिया जाता है कि शिक्षा की गुणवत्ता के कम होते जाने का संकेत सरकारी और गैर-सरकारी संस्थाओं द्वारा आयोजित विभिन्न उपलब्धि सर्वेक्षणों के आंकड़ों में दिखता है। यह तर्क विशेष रूप से दिया जाता है कि न फेल करने की नीति बच्चों को सीखने से हतोत्साहित करती है और पढ़ाई को गंभीरता से न लेने की वजह बनती है। इन दावों में से कोई भी किसी शोध पर आधारित नहीं है, और कम या अधिक, ये सामान्य मान्यताओं और राय पर ही आधारित रहे हैं। बावजूद इसके, आर.टी.ई. के कार्यान्वयन किये जाने के एक दशक से भी कम समय में, पांचवीं कक्षा और आठवीं कक्षा में बच्चों को फेल न करने के प्रावधान को खत्म करने के लिए शिक्षा के अधिकार अधिनियम को संशोधित कर दिया गया।

यह दर्ज करना उचित होगा कि न तो गीता भुक्कल समिति का निर्णय सर्वसम्मति से लिया गया ना ही राज्यसभा ने सर्वसम्मति से निर्णय लिया। राज्यसभा में श्री जावेद अली खान ने यह तर्क देने की कोशिश की, कि हम व्यवस्था को अपनी जिम्मेदारियों से नहीं बल्कि बच्चों को फेल करने का डर दिखा कर सुधारना चाहते हैं। उन्होंने कहा कि–

> जब आप परीक्षा लेंगे, तो फिर पुरानी व्यवस्था में लौट जाएंगे, जो व्यवस्था आर.टी.ई. एक्ट के लागू होने से पहले हमारे देश में थी और जिसमें बच्चे फेल भी होते थे और पास भी होते थे। मैं कहना चाहता हूं कि आज फेल और पास होने की जिम्मेदारी हम छोटे बच्चों पर, अबोध बालकों पर, जो बिलकुल मासूम हैं और जो बहुत ज्यादा जानते नहीं हैं, उनके ऊपर नहीं डाल सकते, बल्कि बच्चों के बारे में यह जिम्मेदारी व्यवस्था की है, हमारे एजुकेशन सिस्टम की है- वह इस बात का इंतजाम करे कि बच्चे आगे शिक्षा ग्रहण करते हुए, उस स्तर को पार करते हुए, कक्षा पांच में या आठ में जाएं, यह उम्मीद उनसे की जाती है।

उन्होंने इस तर्क को और समझाते हुए कहा कि –

> ... अगर इस बिल को पास किया जाता है और छोटी क्लासों में परीक्षा की अनिवार्यता स्थापित कर दी जाएगी, तो निश्चित रूप से स्कूलों में ड्राप-आउट बढ़ेगा। जब यह व्यवस्था नहीं थी, तब हम पहले देखते थे, गाँवों के अंदर, जहाँ कमजोर तबकों के बच्चे शिक्षा लेने जाते थे, खास तौर से सरकारी स्कूलों में, उनमें ड्राप-आउट की दर बहुत ज्यादा होती थी, लेकिन जो पब्लिक स्कूल हैं या प्राइवेट स्कूल हैं, उनके अंदर ड्राप-आउट की समस्या लगभग न के बराबर होती थी। अगर हम उसी व्यवस्था को दोबारा से लागू कर देंगे, तो निश्चित रूप से उन प्राइमरी स्कूलों में, जो सरकारी क्षेत्र में चल रहे हैं, उनमें ड्राप-आउट की समस्या बढ़ेगी।... आप यह भी जानते हैं कि आज सरकारी स्कूल किन वर्गों तक सीमित हैं। उनमें कमजोर तबकों के बच्चे जाते हैं, उनमें दलितों के बच्चे जाते हैं, गाँव-देहात में रहने वाले पिछड़ों और गरीबों के बच्चे जाते हैं, उनमें अल्पसंख्यकों के बच्चे जाते हैं। हम यह कहना चाहते हैं कि आप अपनी व्यवस्था को ठीक कीजिए। आप छोटे बच्चे पर परीक्षा को पास करने की जिम्मेदारी मत डालिए।

हालांकि इस तर्क का प्रभाव आर.टी.ई. में इस संशोधन के राज्य सभा में पारित होने में नहीं दिखा परन्तु इसने शिक्षा के अधिकार के महत्वपूर्ण राजनीतिक पहलुओं को संसद की बहस में दर्ज किया।

संशोधन का शिक्षाई विमर्श पर प्रभाव

इस संशोधन का असर इस अधिनियम के कई धाराओं पर क्रमिक रूप से होगा। यह संसोधन अनिवार्य तौर पर इस अधिनियम के कुछ अन्य प्रावधानों (जैसे– धारा 4 - उम्र सापेक्ष कक्षाओं में दाखिला, और धारा 30- कक्षा आठवीं तक कोई बोर्ड परीक्षा न किये जाने के प्रावधान) को न सिर्फ कमजोर करेगा बल्कि खत्म कर देगा। विशेष रूप से धारा 29 को, क्योंकि यह समूची धारा बच्चों को फेल न करने की धारणा के इर्द-गिर्द रची गई है (जैसे सतत और व्यापक मूल्यांकन)। समग्र रूप से देखा जाये तो, यह अधिनियम स्कूल में बच्चों और उनके सीखने के लिए डर और भय से दूर स्कूल में एक अनुकूल माहौल का निर्माण करता है और इस माहौल को निर्धारित करने वाले आवश्यक तत्वों को बताता है, ''बच्चों के लिए अनुकूल और बाल केन्द्रित तरीके से गतिविधियों, खोज और अन्वेषण के माध्यम से सीखना ... बच्चों को डर, आघात और चिंता से मुक्त करना ... '' (आर.टी.ई. अधिनियम की धारा 29 (ई) और (जी))।

उपरोक्त समझ एक लम्बे समय-अंतराल में हुए शैक्षिक-विमर्श के प्रगतिशील विकास पर आधारित है, जो बच्चों को गुणवत्तापूर्ण शैक्षिक अनुभव प्रदान करने के क्रम में भारत की शिक्षा प्रणाली की कुछ चुनौतियों का सामना करने की मांग करता रहा है।

बच्चों का बार-बार फेल होना और इस वजह से उनका स्कूल से बहार हो जाना प्रारम्भिक शिक्षा को सार्वभौमिक बनाने की महत्वपूर्ण चुनौतियों में से तो एक रहा ही है, पर इसके साथ ही कक्षा की प्रक्रिया में सार्थक संलिप्तता और कक्षाओं में बच्चों का न सीख पाना भी अन्य महत्वपूर्ण चिंताएं रही हैं। कुछ प्रमुख नीति संबंधी दस्तावेजों (विशेष रूप से यशपाल कमेटी रिपोर्ट 1993, और राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005) ने उपरोक्त मुद्दों को रेखांकित किया है और बच्चों के सीखने के मूल्यांकन की पद्धति में व्यवस्थित सुधार को समाधान के रूप प्रस्तुत किया। इन नीतिगत व्याख्याओं की पृष्ठभूमि भूमि में आर.टी.ई. अधिनियम के तहत बनाये गए बच्चों को फेल न करने के प्रावधान का उद्देश्य स्कूल छोड़ देने, अत्यधिक शैक्षिक भार, और बच्चों के लिए लोकतांत्रिक शैक्षणिक वातावरण की कमी जैसी समस्याओं को संबोधित करने का था।

भारतीय स्कूल प्रणाली के पारंपरिक मूल्यांकन की प्रक्रिया का लक्ष्य मूल रूप से छात्रों को 'सफल' या 'असफल' घोषित करने का रहा है। जो कि पाठ्यपुस्तक-आधारित जानकारी को रट कर उसे पुनः उत्पन्न करने की उनकी क्षमता पर आधारित होता है। मूल्यांकन के परिणाम-स्वरूप होने वाले विफलता के अनुभव, अपमान, अपराध-बोध

और तनावपूर्ण प्रतिस्पर्धा युवा शिक्षार्थियों के लिए काफी दर्दनाक है खासकर उन वर्ग के बच्चों के लिए जिन्होंने पहली बार स्कूल प्रणाली में प्रवेश किया है। शिक्षाविद, इन प्रथाओं की जड़ को शिक्षा की औपनिवेशिक परंपराओं में निहित मानते हैं, जिसमें परीक्षा की तकनीक और पाठ्यपुस्तक-केंद्रित अध्यापन के माध्यम से कक्षा के ज्ञान पर कठोर नियंत्रण शामिल रहा है। यहाँ इस संदर्भ में दो धारणाओं के बीच अंतर स्थापित करने की आवश्यकता है (1) एक तकनीक के रूप में मूल्यांकन जो शिक्षार्थियों को सफल या असफल घोषित करती है; और (2) सिखने-सिखाने के औजार के रूप में मूल्यांकन, जिसके जरिये हम शिक्षार्थियों से नियमित रूप से संवाद कर पाते हैं। मूल्यांकन की इस दूसरी अवधारणा पर विचार करने से यह कहने का आधार मिलता है कि बच्चों को फेल नहीं करना चाहिए, और मूल्यांकन – सतत व व्यापक होना चाहिए।

आर.टी.ई. अधिनियम को सावधानीपूर्वक पढ़ने से पता चलता है कि यह शिक्षार्थियों को हर हालात में, बिना किसी सोच-विचार के, अपने आप पास करने की सुविधा नहीं देता, बल्कि यह तो 'फेल न करने की नीति' (एनडीपी) से जुड़ी प्रमुख गलत धारणाओं में से एक है। फेल न करने के इस प्रावधान के खिलाफ बहस करने वाले लोग, धारा 29 के तहत दिए गए सतत व व्यापक मूल्यांकन (सी.सी.ई.) के जनादेश से इसको काटकर देख रहे हैं। सी.सी.ई. एक ऐसा शिक्षण शास्त्रीय औजार है जिसके मार्फत शिक्षक बच्चों के विकास और उनके सीखने को बारीकी से रिकॉर्ड करते हैं और इसके जरिये ये जानने कि कोशिश करते हैं कि उनको कहाँ- कहाँ और किस प्रकार के मदद की जरूरत है (और इसमें अध्याय, यूनिट या समूचे पाठ्यक्रम की समाप्ति के बाद ली जाने वाली अंतिम परीक्षाएं भी शामिल हो सकती हैं)। शिक्षक इस प्रक्रिया से बनी समझ के आधार पर पढ़ाएंगे, और बच्चों व उनके माता-पिता को, उनके सीखने में सहयोग करने के लिए अपनी प्रतिक्रिया देंगे, जैसा कि आर.टी.ई. अधिनियम की धारा 24(सी), (डी) और (ई) में कहा गया है। इस प्रकार अधिनियम, स्कूलों, शिक्षकों, माता-पिता और सबसे महत्वपूर्ण रूप से राज्य पर बच्चों के निरंतर और समग्र शिक्षा की मुकम्मल ज़िम्मेदारी डालता है, और उनके लिए यह अनिवार्यता बनाता है कि वे बच्चों की आवश्यकतानुसार उनसे लगातार जुड़े रहें।

शिक्षाई प्रचलन और एन.डी.पी.

कई शोध अध्ययनों से पता चलता है कि उपरोक्त जनादेशों को जिस तरीके से स्कूलों में लागू किया गया उनमें कई ऐसे मुद्दे हैं जिन्हें एन.डी.पी. पर बहस करते हुए नज़रंदाज़

नहीं किया जा सकता है। इनमें जो मुद्दे सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण रहे हैं उनमें शामिल हैं– (क) आमतौर पर जनसामान्य के लिए और खासकर समाज के हाशिये के लोगों के लिए उपलब्ध शिक्षा की असंतोषजनक गुणवत्ता; (ख) सभी स्तरों पर आर.टी.ई. को लेकर स्पष्टता की कमी और अपेक्षित बदलाव के विरुद्ध परम्परागत जड़त्व; (ग) शिक्षक प्रशिक्षण की गुणवत्ता और शिक्षकों की कमी; (घ) शिक्षण में अपेक्षित बदलाव के लिए अच्छे संसाधनों और सामग्री की कमी; (च) शिक्षकों की पाठ्यचर्या पर स्वायत्तता की कमी होना और उनके काम में नौकरशाही का हस्तक्षेप (वर्मा और शर्मा, 2014)। इन परिस्थितियों में एन.डी.पी. या ऐसा ही कोई और प्रगतिशील प्रावधान कैसे काम करेगा और स्कूल में काम करने वाले शिक्षक इस तरह की स्थिति में ये कैसे तय करेंगे कि सही क्या है– ये वे सवाल हैं, जो पूछे जाने चाहिए।

वैश्विक स्तर पर किए गए कुछ शोध भी इस विचार का भी समर्थन करते हैं कि बच्चों को फेल नहीं किया जाना चाहिए। मिसाल के तौर पर, यूनेस्को की (1971 और 1998) की रिपोर्टों में दर्ज़ किया गया है कि बच्चों के फेल होने कि स्थिति में किसी खास कक्षा में पुनरावृत्ति से होने वाले लाभ की तुलना में नकारात्मक प्रभाव काफी अधिक है और 'कक्षा दोहराने के दौरान छात्रों को अपेक्षित अकादमिक बुनियाद हासिल करने में मदद नहीं मिलती है और सामाजिक समायोजन और आत्मसम्मान पर नकारात्मक असर होता है' (यूनेस्को 1998: 16)। यह रिपोर्ट यह भी दर्ज करती है कि 'कक्षा पुनरावृत्ति पर हुए शोध का विश्लेषण इस तरह की परिकल्पना का समर्थन करने के लिए कोई निर्णायक साक्ष्य प्रदान नहीं करते है कि स्वतः पदोन्नति की तुलना में उसी कक्षा का दोहराव किसी भी तरह से कमजोर शिक्षार्थियों की सहायता करने का एक अधिक प्रभावी तरीका है' (1998: 40)। विभिन्न देशों के नीतियों की तुलनात्मक समीक्षा के आधार पर रिपोर्ट ने इस बात को रेखांकित किया है कि बच्चों को फेल करके उसी कक्षा में रोकने या फेल न करने के प्रवधान व नीतियों का, और शिक्षार्थियों की समग्र उपलब्धियों के बीच कोई स्पष्ट संबंध नहीं है।

स्कूल व्यवस्था के संदर्भ में किये गए ये शोध खासकर नीति निर्माताओं के लिए, एक मजबूत मामला बनाते हैं कि इस समस्या की फिर से जांच की जानी चाहिए। क्योंकि ऐसा कोई भी अनुभवजन्य शोध उपलब्ध नहीं है जो साबित करता हो कि विफलता के डर और सीखने के बीच एक सीधा सह-संबंध है। ऐसा लगता है कि, एन. डी.पी. के खिलाफ दिए जाने वाले तर्क का एकमात्र आधार है– 'डर से सीखना'। इसके

विपरीत, शिक्षाविदों के बीच एक साझी समझ है कि चिंता, तनाव और परीक्षा का डर सीखने को बढ़ावा नहीं देता है बल्कि वास्तव में स्वस्थ और समग्र विकास में बाधा डालता है।

हालांकि 2010 में आर.टी.ई. अधिनियम द्वारा एन.डी.पी.–सी.सी.ई. को अनिवार्य किया गया है, लेकिन कई राज्य कुछ या सभी आरंभिक कक्षाओं में बच्चों को फेल न करने की नीति का पालन इस अधिनियम के लागू होने के पहले से ही करते रहे हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि आर.टी.ई. अधिनियम के कार्यान्वयन से पहले केवल सात राज्यों में किसी न किसी कक्षा तक फेल न करने की नीति अमल में नहीं रही है (मुकुल 2013) । एनसीईआरटी के राष्ट्रीय उपलब्धि सर्वेक्षणों (2001–12) के एक विश्लेषण से पता चलता है कि कुछ खास प्राथमिक कक्षाओं तक एन.डी.पी. का पालन करने वाले राज्यों ने उन राज्यों की अपेक्षा बेहतर उपलब्धि स्तर और सुधार दर्ज किए हैं, जो बच्चों को फेल न करने की नीति का पालन नहीं करते थे (सिंह 2013)। भुक्कल समिति की रिपोर्ट का हवाला देते हुए मुकुल (2013) ने यह भी नोट किया कि आर.टी.ई. लागू होने से एक साल पहले बच्चों के स्कूल छोड़ देने की (ड्रॉपआउट) वार्षिक दर 2009 –10 में 9.1% थी, जो 2010–11 में 6.8% और 2011–12 में 6.5% हो गई। ड्रॉपआउट दर में यह गिरावट अनुसंधान के लायक एक महत्वपूर्ण पहलू है, खासतौर से तब जब एन.डी. पी. की उपयोगिता और व्यावहारिकता प्रश्न के घेरे में है। एन.डी.पी.–सी.सी.ई., या क्या पूरी तरह से आर.टी.ई. को ही बच्चों के स्कूल छोड़ देने की दर में हुए इस गिरावट के कारण के रूप में देखा जा सकता है?

यह पूछना और भी महत्वपूर्ण है कि, जब ऐसी स्थितियां हैं, कि सभी स्तरों पर शिक्षा के परिणाम कम से कमतर दिख रहे हों और जहाँ 'छात्र, माता–पिता और/या शिक्षक के पास इसको बेहतर करने के लिए कोई प्रेरणा न हो'? तब क्या बच्चों को फेल करके शिक्षा की गुणवत्ता और सीखने के कम स्तर की समस्या का हल हो पायेगा? क्या पारंपरिक परीक्षा प्रणाली इनमें से किसी भी समस्या का समाधान है? फेल न करने के प्रवधान को हटाकर शिक्षा की गुणवत्ता की बढ़ती समस्याओं का 'समाधान' करने का इरादा – सुविधा ज्यादा है समाधान कम, क्योंकि इससे व्यवस्था की विफलता के लिए बच्चों को दोष और दंडित करने की विधाई अनुमति मिलती है (शर्मा, 2016)।

निष्कर्ष

भारत में बच्चों के लोकतांत्रिक अधिकारों का सवाल एक ऐसा मुद्दा है जिसे अक्सर एन. डी.पी. पर होने वाली चर्चाओं में छोड़ दिया जाता है। ऐसे में यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण

है कि भारतीय संविधान का अनुच्छेद 21-ए में दर्ज, 6 से 14 साल के बच्चों की शिक्षा के मौलिक अधिकार को, गरिमा के साथ जीवन के अधिकार से जोड़कर पढ़ा जाता है। इस संदर्भ में आर.टी.ई. अधिनियम के तहत जिक्र किये गए, बाल केंद्रित शिक्षा, एन.डी.पी. और सी.सी.ई. एक साथ मिलकर, एक ऐसे कानूनी रूपरेखा को प्रस्तुत करते हैं- जिसमें एक ऐसी शिक्षा का आश्वासन मिलता है जो दंड, अपमान और कठोर प्रतिस्पर्धा जैसी गैर-लोकतांत्रिक प्रथाओं पर आधारित नहीं होता है। ये प्रावधान यह सुनिश्चित करने के लिए हैं कि, बच्चे इस कारण से सीखें कि, वे सीखने में रुचि रखते हैं, न कि वयस्कों (अभिवावकों और शिक्षकों) द्वारा निर्धारित अनिवार्यता, फेल होने के अपमान का डर, या सिर्फ परीक्षा पास करने के बाद होने वाली सराहना के लिए।

एन.डी.पी. का विचार आर.टी.ई. अधिनियम के तहत लायी गई कोई नई व्यवस्था नहीं है। जैसा कि पहले जिक्र किया गया, इस अधिनियम के बहुत पहले से इसके केन्द्रीय समझ को भारत के विभिन्न राज्यों और दुनिया के विभिन्न हिस्सों में व्यवहार में लाया जाता रहा है। बच्चों को फेल न करने का विचार पहुंच, गुणवत्ता, समता और सामाजिक न्याय की चिंताओं के आस-पास रचे गए शैक्षिक विमर्श का हिस्सा रहा है। यह बच्चों के 'सीखने की प्रक्रिया' और एक लोकतांत्रिक संस्था के रूप में 'स्कूल' की समझ में धीरे-धीरे बदलाव को दर्शाता है, जहां बच्चों में अंतर और विविधता को पोषित किया जाता है; इसके लिए दंडित नहीं किया जाता है।

बच्चों को फेल न करने के इस विचार को, किसी शोधपरक चर्चा और विमर्श के बगैर, व्यवस्थित रूप से विरल करना बच्चों के शैक्षिक अधिकार की कानूनी रूपरेखा को तो कमजोर करता ही है साथ ही इस संदर्भ में चले शिक्षाई विमर्श और उसकी प्रगति पर भी एक अघात पहुंचाता है। सरकारों को यह समझना चाहिए कि रोजमर्रा के शैक्षिक काम-काज के संदर्भों को शामिल किये बगैर पाठ्यचर्या संबंधित निर्णय नहीं लिए जा सकते। इन निर्णयों को केवल राजनीतिक व्यवहारिकता से निर्धारित नहीं किया जाना चाहिए। शिक्षा नीतियों में परिवर्तन का प्रभाव लंबे समय तक रहता है और जल्दबाजी में लिए गए निर्णय शिक्षार्थियों की पूरी पीढ़ी को प्रभावित कर सकते हैं। यह विडंबना है कि बच्चों के निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का अधिकार अधिनियम में यह दूसरा संशोधन लगभग उसी समय पारित किया गया जब यशपाल समिति की रिपोर्ट 'शिक्षा बिना बोझ के', ने 25 साल पूरे किए।

संदर्भ

गवर्नमेंट ऑफ इंडिया (1993): *लर्निंग विदाउट बर्डन : रिपोर्ट ऑफ द नेशनल एडवाइजरी समिति* (अध्यक्ष यशपाल शर्मा) नई दिल्ली: मानव संसाधन विकास मंत्रालय.

मुकुल, अक्षय (2013): *''नो डिटेन्शन डजनोट मीन नो एग्जाम''*, द टाइम्स ऑफ इंडिया. http://timesofindia-indiatimes-com/home/education/news/No-detention-doesnt-mean-no-exams/articleshow/20418331.cms?referral=PM

नेशनल काउंसिल फॉर एजुकेशनल रिसर्च एंड ट्रेनिंग (2005): *नेशनल करिकुलम फ्रेमवर्क.* नई दिल्ली: एन.सी.ई.आर.टी.

द राइट ऑफ चिल्ड्रेन टू फ्री एंड कंपल्सरी एजुकेशन (2009) http://mhrd.gov.in/sites/upload-files/mhrd/files/free-and-compulsory-NEW.pdf

द राइट ऑफ चिल्ड्रेन टू फ्री एंड कंपल्सरी एजुकेशन (दूसरा संशोधन),बिल 2017.

यूनेस्को (1971): *वेस्टेज इन एजुकेशन : ए वर्ल्ड प्रॉब्लम. पेरिस : इंटर-नेशनल ब्यूरो ऑफ एजुकेशन,* यूनेस्को.

यूनेस्को (1998): *वेस्टेड आपर्चुनिटी : व्हेन स्कूल फेल - रिपिटीसन एंड ड्रॉपआउट इन प्राइमरी स्कूल.* पेरिस : इंटरनेशनल कंसल्टेटिव आफ एजुकेशन फार आल, यूनेस्को.

शर्मा, गुंजन (2016): रेवेद्रसग ट्विन आइडियल ऑफ राइट तो एजुकेशन : नो डिटेन्शन एंड इकनोमिक कंटीन्यूअस एंड कॉम्प्रेहेंसिव इवैल्यूएशन. *इकनोमिक एंड पोलिटिकल वीकली,* 51(9), 85-89.

सेंट्रल एडवाइजरी बोर्ड ऑफ एजुकेशन (2014): *रिपोर्ट ऑफ केब सब-कमिटी ऑन असेसमेंट एंड इम्प्लेमेंटसन ऑफ कंटीन्यूअस एंड कॉम्प्रेहेंसिव इवैल्यूएशन एंड नो डिटेन्शन प्रोविसन* (अध्यक्ष गीता भुक्कल), दिल्ली.

सिंह, अजय कुमार (2013): *टीचर्स इन्हिबिसन एंड चाइल्डस डेमोक्रेटिक राइट : कंटीन्यूअस एंड कॉम्प्रेहेंसिव इवैल्यूएशन एंड नो डिटेन्शन प्रोविसन अंडर द आर.टी.ई. एक्ट* 2009.'टीचर सपोर्ट', 2(2), 16-36.

वर्मा, विजय और शर्मा, गुंजन (2014): *टीचर्स इन कॉन्वर्सशन.* दिल्ली: अम्बेडकर यूनिवर्सिटी दिल्ली.

परिप्रेक्ष्य
वर्ष 25, अंक 2, अगस्त 2018

शोध टिप्पणी/संवाद

नव उदारवादी एजेंडा और प्राइवेट स्कूल के शिक्षक

ऋषभ कुमार मिश्रा*

शिक्षकों के बारे में सवाल पूछा जाता है कि एक 'अच्छा' शिक्षक कौन है? अक्सर इस सवाल के उत्तर में हम अपने किसी शिक्षक विशेष का उदाहरण देते हैं। इस शिक्षक विशेष के व्यक्तिगत गुणों की सराहना करते हैं। उसकी छवि को एक करिश्माई रोल मॉडल के रूप में देखते हैं जो हमें पढ़ाने वाला, सलाह देने वाला और हमारे व्यक्तित्व को गढ़ने वाला होता है। हम उसकी भूमिका को बौद्धिक विकास के साथ-साथ नैतिक और चारित्रिक विकास तक उभारते हैं। इससे ही मिलती जुलती भूमिका में नीतिगत दस्तावेज भी एक 'अच्छे' अध्यापक की परिकल्पना करते हैं। वे उसे ऐसा पेशेवर मानते हैं जो सोचने-विचारने वाला हो, जो अपने विद्यार्थियों की सोचने और विचारने की क्षमता को भी जगाए (एन.सी.एफ.टी.ई., 2009, एन.सी.एफ. 2005)। इन दोनों परिभाषाओं के उलट प्रबंधन, चाहे वह निजी हो या सरकारी, उसे अच्छा अध्यापक मानता है जो दिए गए संसाधनों और दबावों में विद्यार्थियों की उपलब्धि के लिए समर्पित हो (बत्रा, 2005)। प्रबंधन की विचारधारा और व्यवस्था को बनाए रखने में सहयोग करे (कुमार, 2011)। शिक्षक की इन विरोधाभासी छवियों को आप अपने आस-पास खोज सकते हैं। उदाहरण के लिए, यदि आप शिक्षकों से बातचीत करें तो उनकी स्मृति की पोटली में आप अनगिनत यादें पाएंगें जिसमें न जाने कितने विद्यार्थियों के नाम, उनसे जुड़े किस्से, अनगिनत प्रयोग और अनुभव, सीखने और जानने के नुस्खे होगें। आप यह भी पाएंगें ये स्मृतियां किसी सिद्धान्त की उपज नहीं हैं बल्कि शिक्षण के दौरान पैदा हुई सूझ-बूझ होती हैं। स्मृतियों की इस पूंजी की तुलना न तो शिक्षा के सैद्धान्तिक ज्ञान से की जा सकती है और न ही व्यावसायिक संतुष्टि के किसी मनावैज्ञानिक सिद्धान्त से। यह तो

*सहायक प्रोफेसर, शिक्षा विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र

शिक्षक और विद्यार्थियों की साझा संपत्ति होती है जो स्थायी स्मृति बन शिक्षकों को उपलब्धि का एहसास कराती है। इस उपलब्धि की एक सीमा यह है कि इसमें केवल अध्यापक और विद्यार्थी शामिल हैं। जैसे ही इस दायरे से बाहर निकलकर बड़े सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक फलक पर अध्यापकों की स्थिति को देखते हैं तो अब तक जिस सुंदर चित्र को खींचा गया है उसमें दरारें पड़ने लगती हैं। इन दरारों का अवलोकन उन सरकारी रिपोर्टों या किसी निजी संस्थान के अध्ययन में खोज सकते हैं जहां शिक्षकों की उदासीनता, उत्तरदायित्वहीनता और उपेक्षित होने जैसे पक्षों का उल्लेख होता है। ऐसी स्थितियों के लिए अक्सर दोषारोपण शिक्षकों पर किया जाता है और इसे उनके व्यक्तिगत गुणों का हिस्सा बता दिया जाता है। जबकि सच्चाई यह है कि हमारी संस्थागत संस्कृति शिक्षकों की सक्रियता और उत्साह का पोषण नहीं कर पा रही है। वह उन्हें कुछ नया करने के लिए आकर्षित नहीं कर पा रही है। स्कूलों की कार्य-संस्कृति शिक्षण कर्म को 'रूटीन प्रैक्टिस' बना दे रही है।

इसी पृष्ठभूमि में यह लेख वर्धा (महाराष्ट्र) जिले के अलग-अलग प्राइवेट स्कूलों में काम कर रहे शिक्षकों से हुयी बातचीत, उनके अनुभवों और चिंताओं को आधार बनाकर शिक्षण कर्म के यथार्थ के एक भिन्न फलक को प्रकट करने की कोशिश करता है। ये शिक्षक उस बड़े पेशेवर समूह के प्रतिनिधि हैं जो निजी क्षेत्र के श्रम बाजार में अपने वेतन-भत्ते की चुनौतियों से लेकर वैयक्तिगत जीवन में अपनी पहचान को लेकर उहापोह की स्थिति में है। कुल स्कूली शिक्षकों के समुच्चय में इनका एक बड़ा हिस्सा है। सरकारी क्षेत्रों में नौकरियों की कमी और कटौती के कारण अध्यापक शिक्षा की डिग्री वाले युवक और युवतियों की बड़ी संख्या हर वर्ष इस समूह में जुड़ रही है। यहां यह बताना जरुरी है कि इन शिक्षकों ने किसी प्रश्नावली या साक्षात्कार के दौरान ये बातें साझा नहीं की। समय-समय पर अनौपचारिक मुलाकातों में उनके जो विचार प्रकट हुए, उन्हें लेख का आधार बनाया गया। इन शिक्षकों ने बिना उद्दीपक यानि की प्रोवोक किए बिना ही अपनी व्यथा-कथा सुनायी।

प्राइवेट स्कूल : शिक्षा का नव उदारवादी अवतार

प्राइवेट स्कूलों की मौजूदगी और स्वीकार्यता आज के समय की सच्चाई है। महानगरों से लेकर छोटे शहरों, कस्बों और गांवों तक ऐसे स्कूल खुल चुके हैं। एक तरफ जहां महानगरों में कुछ ऐसे स्कूल मिल जाएगें जो आलीशान इमारतों और पांच सितारा

होटलों जैसी सुविधाओं से युक्त हैं तो दूसरी तरफ ज्यादातर स्कूल ऐसे हैं जो कम फीस वाले हैं। ये दूसरे तरह के स्कूल संसाधनों की दृष्टि से भी संपन्न नहीं है। फिर भी इनके प्रति अभिभावकों के आकर्षण में कोई कमी नहीं है। आजकल सरकारी स्कूल में अपने बच्चे को वही अभिभावक भेजता है जो निजी स्कूल की थोड़ी सी भी फीस वहन नहीं कर पाता है। ऐसे हालात तब हैं जबकि अनिवार्य और मुफ्त स्कूली शिक्षा हर बच्चे का मौलिक अधिकार है। इस अधिकार को सुनिश्चित करना राज्य का दायित्व है। बावजूद इसके सरकारी शालाओं की प्रभावशीलता और गुणवत्ता के प्रति आम आदमी आशान्वित नहीं है। इसका कारण है कि सरकारी स्कूलों की शिक्षा, उसकी अपेक्षाओं पर खरी नहीं उतर रही है। हर अभिभावक इसी मकसद के साथ अपने बच्चे को स्कूल भेजता है कि बच्चा एक सफल आर्थिक प्राणी बनेगा जिसकी आर्थिक प्रगति, उसकी और परिवार की सामाजिक गतिशीलता का माध्यम बनेगी (बाल, 2003)। आर्थिक प्राणी की इस छवि में प्रभावशीलता और योग्यता का पैमाना रोजगार के बाजार में सफलता है। बाजार के सिद्धान्तों के अनुरूप प्राइवेट स्कूल आम आदमी की इस आस को बनाए रखते हैं। इसी कारण वे फल-फूल रहे हैं। बाजार की ही शब्दावली के सहारे कहूं तो इनकी मांग बनी हुयी है। इस तरह से ये स्कूल पूंजी के निर्माण और लाभ कमाने के संस्थान बन गए हैं (हिल, 2007)। इनके लाभ से उपभोक्ताओं को कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि ये उपभोक्ताओं को अपेक्षित मूल्य प्रदान करने के वायदे पर कायम हैं। तात्पर्य है कि ये विद्यालय यदि आपके बच्चों को ऐसा कुछ सिखाते हैं जिससे वह अपने हम उम्र प्रतियोगियों से आगे निकल जाए तो इसके लिए आप अधिक कीमत चुकाने में गुरेज नहीं करेंगे। अब समस्या है कि सब बराबर कीमत नहीं चुका सकते हैं। इसलिए स्कूल द्वारा पैदा होने वाले लाभ के अवसर असमान हैं। यह असमानता पूंजीपति और प्रभावशाली लोगों को संतोष देती है कि उनके बच्चों का स्कूल अन्य के बच्चों के स्कूल से भिन्न और विशेष है। दूसरी ओर भारत का वृहद् मध्यम वर्ग अपनी जरुरतों में कटौती कर निजी स्कूल जनित लाभ पाने के लिए जूझ रहा है। निजीकरण के समर्थक कहेगें कि यह व्यवस्था चुनाव का विकल्प देती है जबकि सच्चाई है कि इसमें हर विकल्प की श्रेणी और कीमत है जो थोड़े से चुने हुए लोगों के पक्ष में है। ऐसे ही निजीकरण के पक्ष में फैलाया जाने वाला दूसरा मुहावरा 'प्रतियोगिता' है। ऐसा माना जाता है कि जब खुली बाजार व्यवस्था में स्कूलों के बीच प्रतियोगिता होगी तो वे अपनी गुणवत्ता को सुनिश्चित करेंगे। यह

प्रतियोगिता ब्रैण्डिंग को जन्म दे रही है। अधिकांश प्राइवेट स्कूल बच्चों और अभिभावकों को सुविधाओं का आकर्षण दे रहे हैं। इस आकर्षण में अधिक से अधिक उपयोगी ज्ञान और कौशल को सिखाने का विज्ञापन है। वस्तुत: इस तरह के प्रयासों से स्कूल विद्यार्थियों को कम समय में अधिक सिखाने के बहाने उन पर बोझ बढ़ाता है। सीखने की स्वाभाविकता को नष्ट करता है। इसी तरह अपनी विशिष्टता के नाम पर स्कूल में बहुत-सी बेचे जाने वाली वस्तुओं और सेवाओं को बेचने लगे हैं जो अभिजनत्व का बोध कराती है। उदाहरण के लिए हॉर्स राइडिंग, स्वीमिंग पूल और फॉरेन ट्रिप के अवसरों की उपलब्धता या कम फीस वाले स्कूलों में कम्प्यूटर की नि:शुल्क शिक्षा, कक्षा शिक्षण के साथ मुफ्त ट्यूशन जैसी सुविधाओं को देख सकते हैं। प्रतियोगिता में आगे बने रहने का भाव शिक्षा के सामाजिक-सांस्कृतिक सरोकारों को पीछे ढकेल देता है। कारण? स्कूलों की सफलता का पैमाना प्रतिष्ठित संस्थानों में प्रवेश या प्रवेश परीक्षा को उत्तीर्ण करने का प्रतिशत है। हर स्कूल इस प्रतिशत को अधिक से अधिक ऊँचा करना चाहता है। इसके लिए केवल पुस्तकीय ज्ञान की दक्षता की आवश्यकता होती है। अत: पूरी व्यवस्था इसके इर्द-गिर्द सिमट के रह जाती है। इन निजी स्कूलों में संस्था के लाभ के लिए हर कर्मचारी को अपनी भूमिका सिद्ध करनी है। इस तरह की नव उदारवादी व्यवस्था ऐसे वैयक्तिक पेशेवरों की पैरवी करती है जो अपने प्रदर्शन से संस्था के लिए अपनी उपयोगिता को बनाए रखें (रीड, 2003)। प्रबंधन इन्हें लगातार प्रदर्शन की कमजोरियों से परिचित कराता है ताकि वे अपने को सर्वोत्तम और विशिष्ट बताने की लालसा में काम करते रहें। ऐसा करते हुए वह कर्मचारियों के बीच भी प्रतियोगिता पैदा करता है। इसमें प्रबंधन का यह लाभ है कि अलग-अलग व्यक्ति संस्था के लाभ के लिए अधिकतम कार्य करते हैं और वे एकजुट होकर कभी अपनी आवाज नहीं उठा सकते।

प्राइवेट स्कूलों का श्रम बाजार

जैसा कि पहले भी उल्लेख किया गया है कि नव उदारवादी एजेंडें में शिक्षक की नियुक्ति और सेवाशर्तें मुक्त श्रम बाजार की शर्तों के अनुसार होती है। कई बार राज्य निगरानी के कुछ उपाय करता है लेकिन ये बहुत कारगर सिद्ध नहीं होते हैं। इस श्रम बाजार में शिक्षक की कमजोर स्थिति का अनुमान इसी बात से लगा सकते हैं कि एक शिक्षिका पिछले तीन वर्षों से अलग-अलग प्राइवेट स्कूलों में नौकरियाँ बदल रही है।

उन्होंने 5000 रुपए के वेतन से नौकरी शुरू की थी। वर्तमान में उनका वेतन 10000 रुपए है। इतना वेतन तो भारत सरकार के किसी चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी का भी नहीं होता। स्थिति यह है कि इनके जिले का कोई भी प्राइवेट स्कूल साल के 12 महीने वेतन नहीं देता। गर्मी की छुट्टियों का वेतन नहीं मिलता। साथ ही यह डर भी रहता है कि अगले वर्ष कोई सस्ता शिक्षक मिल गया तो इनकी नौकरी भी जा सकती है। शिक्षकों को वेतन कम देना हो इसके लिए स्कूल शिक्षकों की न्यूनतम अर्हता से भी समझौता कर लेते हैं। लगभग हर प्राइवेट स्कूल में आपको ऐसे शिक्षक अवश्य मिलेंगे जिनके पास अध्यापक शिक्षा की कोई उपाधि ही नहीं है। अध्यापक पात्रता परीक्षा पास करना दूर की बात है। इन स्कूलों में महिला शिक्षिकाओं की संख्या अधिक थी। अक्सर स्त्रियों के स्वभाव और माँ की सी भूमिका के सापेक्ष इसकी व्याख्या की जाती है। जबकि सच्चाई है कि महिला होने के कारण उनकी सेवाशर्तों और सौदेबाजी करने की ताकत अपेक्षाकृत कम होती है। अत: वे कम वेतन पर काम करने को तैयार हो जाती हैं। यह भी पाया गया कि स्कूल ने विषयों की प्रकृति के आधार पर अध्यापकों का श्रेणीकरण कर दिया है। उनके लिए गणित और विज्ञान के अध्यापक महत्वपूर्ण हैं। उन्हें अपेक्षाकृत अधिक वेतन दिया जाता है। जबकि हिंदी, मराठी और सामाजिक अध्ययन के विषयों में वेतन के लिए अधिक जूझना पड़ता है। एक स्कूल में तो देखा कि स्थानीय कोचिंग के अध्यापक को स्कूल केवल इसलिए वेतन देता है कि उसके नाम पर बच्चे आएं। अंशकालिक अध्यापकों की नियुक्ति एक और तरीका है जिसके द्वारा स्कूल अध्यापकों का शोषण करते हैं। खेल, नृत्य और कला जैसे विषयों के अध्यापक जरूरत पड़ने पर बुलाये जाते हैं। जब ये आते हैं उस दिन का वेतन इन्हें दिया जाता है। एक अन्य प्राइवेट स्कूल के शिक्षकों ने बताया कि उनके यहां शिक्षकों को सख़्त हिदायत है कि उन्हें कितना वेतन मिलता है, इसकी जानकारी वे न तो किसी बाहरी को देगें न ही उसी विद्यालय के किसी अन्य साथी शिक्षक को। सवाल उठता है कि इन स्थितियों के बाद भी ऐसे विद्यालयों को शिक्षक कैसे मिल जाते हैं। क्यों न मिले? सरकारी नौकरियां लगातार घट रही हैं। सरकारी शालाओं में भी बड़ी संख्या में पद खाली हैं। राज्य सरकारों द्वारा शिक्षक भर्ती परीक्षाओं का आयोजन नहीं हो रहा है। ऐसी स्थिति में उपर्युक्त विवेचित स्थिति स्वाभाविक है।

कार्य संस्कृति : निगरानी और जवाबदेही की जकड़बंदी

लोकतंत्र, नागरिकता और समानता का व्यवहार जैसे शब्दों का चलन स्कूल के लक्ष्यों और कार्यप्रणाली को परिभाषित करने के लिए खूब किया जाता है। इन स्कूलों के शिक्षकों ने जो अनुभव साझा किए उसके आधार पर समझ में आता है कि प्राइवेट स्कूलों में प्रबंधन सर्वोपरि होता है। आवश्यक नहीं है कि प्रबंधन को शिक्षा के लक्ष्य, उसकी प्रक्रिया, माध्यम और शिक्षणशास्त्र के सरोकारों का ज्ञान हो। अक्सर प्रबंधन धनाढ्य व्यक्ति करते हैं जो अपनी पूंजी से विद्यालय का आरंभ और संचालन करते हैं। ऐसे प्रबंधन स्कूल के संचालन के लिए किसी 'अनुभवी' अध्यापक को कुशल प्रशासक मानते हुए प्रिंसिपल बना देते हैं। प्रबंधक की व्यक्तिगत सोच का प्रभाव पूरे संगठन पर दिखता है। शिक्षकों के उत्तरदायित्व तय किये जाते हैं। शिक्षक प्रिसिंपल और प्रबंधक की निगरानी में और उनकी सलाह से कार्य करते हैं। कई विद्यालयों में शिक्षकों के लिए पूरी 'आचार संहिता' इसी प्रकार निर्मित थी। ऐसे निजी स्कूलों में शिक्षकों से पूछा नहीं जाता बल्कि उन्हें बताया जाता है कि क्या करना है और कैसे करना है। उदाहरण के लिए एक अध्यापक ने बताया कि उनके यहां जब नया सत्र शुरु होता है तो पास के महानगर के प्रतिष्ठित स्कूलों के अध्यापकों को बुलाकर 'बेस्ट प्रैक्टिस' के नाम पर उन विद्यालयों में करायी जाने वाली गतिविधियों को अपने विद्यालय में करने के लिए तैयार किया जाता है। इस कार्यशाला में आमंत्रित विशेषज्ञ 'पूरी तैयारी' के साथ आते हैं। वे इन शिक्षकों को कब करना है? क्या करना है? कैसे करना है? का पूरा खाका देकर जाते हैं। इस शिक्षक ने यह चिंता जाहिर की है, कि दूसरे की नकल उतारने की जरूरत क्यों हैं? उसमें उद्विग्नता थी कि वह अपने विद्यार्थियों के लिए कुछ हट के कर सकता है लेकिन इसके अवसर नहीं हैं। एक शिक्षिका ने अपना अनुभव साझा करते हुए कहा कि विद्यालय के स्थापना दिवस के आयोजन में उसे और उसके साथियों को अतिथियों के स्वागत के लिए गाना गाना था। पहले तो उन लोगों ने इस जिम्मेदारी को मान लिया। बाद में कहा गया कि जब तक अतिथियों के मंच पर आने और वहां से उतरने के पूर्व तक उन्हें उसी स्थान पर खड़े रहना है। इस शिक्षिका का सवाल था कि जब बच्चे अपने शिक्षक को इस भूमिका में देखेंगे तो क्या वे उसकी बात मानेंगे? निश्चित रूप से यह व्यवहार शिक्षक की गरिमा के विरुद्ध है। इसी तरह एक शिक्षिका ने बताया कि प्रबंधक उसकी कक्षा में सीधे आ जाते हैं और बच्चों के सामने ही बताने लगते हैं कि उसे इन बच्चों को कैसे पढ़ाना चाहिए।

अलग-अलग प्राइवेट स्कूल के शिक्षकों ने अपने यहाँ की कार्य संस्कृति के बारे में जो जानकारी साझा की वह भी स्वायत्तहीन, कठोर निगरानी और नियंत्रण वाली व्यवस्था को दर्शाती है। एक शिक्षक ने बताया कि उन्हें स्कूल पहुंचते ही अपना मोबाइल फोन बंद करना पड़ता है। स्कूल की छुट्टी होने पर ही फोन ऑन करना होता है। एक शिक्षिका के अनुसार उसके विद्यालय में सख़्त निर्देश है कि कोई शिक्षक बैठ कर नहीं पढ़ा सकता है। हर कक्षा में सीसीटीवी है इसलिए उन्हें इस आदेश का पालन करना होता है। इन शिक्षकों के संदर्भ में पाया गया कि स्कूल की अवधि के बाद भी वे स्कूल के कामों को कर रहे होते हैं। अक्सर उन्हें घर लौटते समय नोटबुक का बंडल लाना होता है। विद्यालय में अधिकांश समय कक्षाओं में गुजारना पड़ता है इसलिए यह कार्य वहां नहीं हो पाता। एक शिक्षिका बताती हैं कि उनके यहां कक्षाध्यापिका का फोन नंबर सभी अभिभावकों को दिया गया है। स्कूल के बाद हर-रोज औसतन 4-5 फोन आते हैं। कई बार कुछ जरुरी चिंताएं होती हैं लेकिन हर छोटी चिंता पर फोन करने की आदत के कारण उन्हें लगता है कि वे 24 घंटे ड्यूटी पर हैं। निजी स्कूलों ने एक अच्छी सेवा देने वाली फर्म की तरह सलाह-मार्गदर्शन आदि ग्राहकों के हितों का ख़्याल रखने वाली योजनाएं चलाते हैं। इन सब का दबाव शिक्षकों पर पड़ता है। इस दबाव के बदले उन्हें कोई भी पूरक लाभ नहीं मिलता। शिक्षकों के इन अनुभवों से लगता है कि वे केवल शिक्षण की सुविधा प्रदान करने वाले 'कस्टमर केयर अधिकारी' बन चुके हैं। वे प्रभावी संप्रेषण के तरीके जानते हैं। वे विषय का ज्ञान रखते हैं। वे सूचना प्रौद्योगिकी का बखूबी इस्तेमाल करते हैं। इस सबके साथ एक कुशल कर्मचारी की तरह वे क्या-क्या करना है, के निर्देशों का पालन करते हैं। दु:खद तो यह है कि कक्षा के बाद की अवधि में क्या-क्या करना है? इसका पूरा ढांचा है। जैसे-लंच ड्यूटी, ऑफ्टर स्कूल ड्यूटी, डेटा कीपिंग, नोट बुक चेकिंग आदि। लेकिन कक्षा में पढ़ाने की तैयारी के लिए न तो समय दिया जाता है और न ही संसाधन। उल्लेखनीय है इन शिक्षकों के वृत्तिक विकास के लिए न तो कोई कार्यशाला आयोजित की जाती है और न ही ऐसी किसी कार्यशाला के लिए इन्हें बाहर भेजा जाता है। अपने विषय से संबंधित पुस्तकों को इन्हें खुद खरीद के पढ़ना पड़ता है। इसी तरह स्कूल बच्चों के लिए पत्र-पत्रिकाएं तो मंगाते हैं लेकिन शिक्षकों के लिए उपयोगी पत्रिकाओं को नहीं मंगाया जाता। कृष्ण कुमार (2011) नव उदारवाद और शिक्षा के संबंध की चर्चा करते हुए गुस्सा, भ्रम और अविश्वास, तीन विशेषणों का प्रयोग करते हैं। इन शिक्षकों के

अनुभवों में आप इन तीनों तत्वों को खोज सकते हैं। जिन शिक्षकों का कार्यस्थल उनके अनुभवों और विचारों की उपेक्षा करता है वहां एक अनकही असंतुष्टि ही होगी। नया प्रयोग करने की आजादी न होने पर न केवल शिक्षक बल्कि सीखने-सिखाने की प्रक्रिया व्यक्ति और बाजार केन्द्रित हो जाएगी।

क्या ये शिक्षक वास्तव में पेशेवर हैं?

कर (2000) पेशेवर शिक्षक की विशेषताओं के बारे में बताते हैं कि–

- कोई भी पेशेवर एक लोक-सेवा प्रदान करता है।
- उसके पास एक व्यवस्थित सैद्धांतिक ज्ञान और अभ्यासजन्य अनुभव होता है।
- अभ्यास की एक नैतिक संहिता होती है जो व्यवसाय विशेष के लिए विशिष्ट होती है।
- नियुक्ति, सेवा-शर्तों और अनुशासन के लिए नियम और संगठन होता है।
- इन्हें एक वैयक्तिक स्वायत्तता-निर्णय लेने और उसे क्रियान्वित करने का अधिकार होता है।

क्या प्राइवेट स्कूल के शिक्षकों के संदर्भ में ये विशेषताएं विद्यमान हैं? लेख से स्पष्ट है कि इन कसौटियों के बदले प्राइवेट स्कूल के शिक्षक प्रतिस्पर्धा, जवाबदेही और ऑडिट में उलझे हुए हैं। ये शिक्षक अपने कार्यों के प्रमाण का दस्तावेज बनाने में व्यस्त हैं ताकि वे अपने को उपयोगी सिद्ध कर सकें। इस नव उदारवादी व्यवस्था में सर्वाधिक अविश्वास भी उन्हीं पर किया जा रहा है। वे उच्च दक्षता, निम्न लागत और शून्य मेंटेनेंस की शर्त को पूरा कर रहे हैं। उन्हें अपने विचार रखने या प्रबंधन से अपनी बात कहने का न्यूनतम अवसर है। उनसे अपेक्षा है कि वे प्रबंधन के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक एजेंडे से सहमत हों। वस्तुत: शिक्षकों का वृत्तिक (प्रोफेशनल) संदर्भ सत्ता संबंधों पर आधारित हो चुका है। इसमें एक अच्छा अध्यापक वह है जो दिए गए संसाधनों और दबावों में विद्यार्थियों की उपलब्धि के लिए समर्पित हो। जो मशीन की तरह कार्य तो करे लेकिन विचारवान मनुष्य की तरह कोई सवाल न पूछे। विद्यालय प्रबंधन ने शिक्षक को आज्ञाकारी कर्मचारी बना दिया है। जैसे-जैसे शिक्षण व्यवसाय पर बाजार का दबाव और प्रभाव बढ़ेगा वे शिक्षक कम टेक्नीशियन और मैनेजर अधिक लगेंगे। औपनिवेशिक काल में सत्ता-अधीनस्थ होने के कारण कर्मचारी बना शिक्षक आज बाजार के प्रभाव में

ऐसा शिक्षक बनता जा रहा है जो 'गुरु' होने के भ्रम में बिना निवेश या टूट-फूट और क्षरण के निजी क्षेत्र के विस्तार और लाभार्जन का माध्यम बन चुका है। इस व्यवस्था ने उसकी सामाजिक-राजनीतिक चेतना और सक्रियता को पंगु कर दिया है। एक केन्द्रीकृत और लाभोन्मुखी व्यवस्था में नियंत्रण, एकरूपता, निगरानी और जवाबदेही के लिए प्रमाण प्रस्तुत करने की मजबूरी ही अध्यापकों की उदासीनता का मूल है। हर व्यवसाय के नैतिक सरोकार होते हैं। शिक्षा और शिक्षक कोई बाजार की सामग्री नहीं है जो सेल्समैन की तरह दिए टारगेट को पूरा करने को मजबूर हो।

काश इन स्कूलों के प्रबंधक समझ पाते कि शिक्षण ग्राहकों को संतुष्ट करने वाला व्यवसाय नहीं है। यह ऐसी प्रक्रिया है जहां जीवंत चेतनाएं संवाद करती हैं। नया रचती हैं, करती हैं, अपनाती हैं, विरोध करती हैं। जहां केवल विषय नहीं पढ़ाया जाता है पहचानें निर्मित होती हैं समाज, उसका इतिहास, समस्याएं और विमर्श सब मौजूद होते हैं। इस जीवंत व्यवस्था में शिक्षक विश्वास चाहते हैं। अपनी सोच को कार्यरूप देने की सुविधा और सहयोग चाहते हैं। सम्मानजनक जीविका चाहते हैं। शिक्षण यांत्रिक कार्य मात्र नहीं हैं। इसमें भावनात्मक भागीदारी होती है। शिक्षक-विद्यार्थी और शिक्षा-शिक्षक और शिक्षक-विद्यालय के बीच सौहार्दपूर्ण सकारात्मक संबंध विद्यालय में एक स्वस्थ वातावरण बनाता है। तब जाकर शिक्षक विद्यालय को अपनाते हैं। यह अपनत्व का भाव उनके प्रदर्शन के स्तर को ऊंचा उठाता है। शिक्षण केवल व्यक्तिगत उपलब्धि या क्षमता से नहीं क्रियान्वित होता है। शिक्षकों का समूह एक दूसरे के साथ मिलकर सीखने की संस्कृति तैयार करते हैं। एक दूसरे का अभिप्रेरित करते हैं। किसी एक की जवाबदेही तयकर उस पर दबाव डाला जा सकता है लेकिन व्यवस्था को प्रभावशाली बनाया जा सके इसकी संभावना थोड़ी कम है। शिक्षण व्यवसाय में प्रोफेशलन होने के नाम पर पारस्परिक रिश्तों की जितनी उपेक्षा करेंगे कार्य संस्कृति उतनी ही गड़बड़ होगी। शिक्षक को क्या करना है? कैसे करना है? कब करना है, का निर्णय यदि प्रबंधन या कोई अन्य अधिकारी करेगा तो शिक्षक की सृजनात्मकता, उसके अभ्यासमूलक ज्ञान, उसकी सोचने-विचारने की शक्ति को आप खारिज करेंगे। शिक्षक केवल आर्थिक प्राणी नहीं है जो संगठन के लिए उत्पादक श्रमिक मात्र हो बल्कि वह मननशील अभ्यासकर्ता है जो अपने विद्यार्थियों और खुद के सर्वांगीण विकास के लिए सचेत रहता है।

संदर्भ

बाल, एस. (2003). द टीचर्स शूल एंड द टेरर ऑफ परफॉरमिटीविटी. *जर्नल ऑफ एजुकेशन पॉलिसी,* 18(2), 215–228।

बत्रा, पी. (2005). वॉइस एंड एजेंसी ऑफ टीचर्स : मिसिंग लिंक इन नेशनल करीकुलुम फ्रेमवर्क 2005. *इकोनोमिक एंड पॉलिटिकल वीकली,* 40(40), पृ. 4347–4356।

कर, डी. (2000). *प्रोफेशनलिज़्म एंड एथिक्स इन टीचिंग.* लन्दन: रूटलेज

हिल, डी. (2007). क्रिटिकल टीचर एजूकेशन, न्यू लेबर एंड द ग्लोबल प्रोजैक्ट ऑफ निओलिबरल कैपिटल. *पॉलिसी फ्यूचर्स इन एजूकेशन,* 5(2), पृ. 204–225।

कुमार, के. (2011). टीचिंग एंड द निओ–लिबरल स्टेट. *इकोनोमिक एंड पॉलिटिकल वीकल,* 46(21), पृ. 37–40।

एन.सी.टी.ई. (2009). *नेशनल करीकुलुम फ्रेमवर्क फॉर टीचर्स एजुकेशन.* नई दिल्ली एनसीटीई

एन.सी.ई.आर.टी. (2005). *नेशनल करीकुलुम फ्रेमवर्क.* ई दिल्ली एनसीईआरटी

रैड, ए. (2003) अन्डरस्टेंडिंग टीचर्स वर्क: इज देअर स्टिल ए प्लेस फॉर लेबर प्रोसेस थियोरी? *ब्रिटिश जर्नल ऑफ सोशियोलॉजी ऑफ एजुकेशन,* 24(5), पृ. 559–573

(साभार: शैक्षिक विमर्श)

परिप्रेक्ष्य
वर्ष 25, अंक 2, अगस्त 2018

शोध टिप्पणी/संवाद

संस्कृत उपलब्धि परीक्षण का निर्माण तथा मानकीकरण

रंजय कुमार पटेल* एवं **शिरीष पाल सिंह****

सारांश

अनुसंधान प्रक्रिया में समस्या चयन तथा परिकल्पना के निर्माण के पश्चात् शोधार्थी के समक्ष परिकल्पनाओं के परीक्षण के लिए आवश्यक प्रदत्तों के संकलन की समस्या आती है, जिसका समाधान उपकरणों द्वारा किया जाता है। शोध के सन्दर्भ में उपकरण वह है, शोधार्थी जिसका प्रयोग सूचना या आँकड़े एकत्रित करने के लिए करता है। इन प्रदत्तों के आधार पर ही किसी शोध कार्य के निष्कर्ष निकाले जाते हैं। स्पष्ट है कि शोध उपकरण 'शोध' को वैज्ञानिक आधार प्रदान करते हैं। उपलब्धि परीक्षण के द्वारा अधिगम के उद्देश्यों की प्राप्ति तथा विद्यार्थियों की प्रगति की जाँच की जाती है। उपलब्धि परीक्षण की सहायता से ही किसी व्यक्ति विशेष द्वारा किसी विषय में प्राप्त ज्ञान का आकलन किया जाता है। प्रस्तुत शोध कार्य का उद्देश्य कक्षा-9 के विद्यार्थियों के संस्कृत विषय के ज्ञान तथा प्रगति के मूल्यांकन के लिए संस्कृत उपलब्धि परीक्षण का निर्माण एवं मानकीकरण करना था। संस्कृत उपलब्धि परीक्षण के निर्माण के लिए शोधार्थी द्वारा माध्यमिक शिक्षा परिषद् प्रयागराज (इलाहाबाद) द्वारा वर्ष 2018-19 के लिए निर्धारित कक्षा-9 के संस्कृत विषय की पाठ्यचर्या को आधार बनाया गया। संस्कृत उपलब्धि परीक्षण का निर्माण करते समय शोधकर्त्ता द्वारा सर्वप्रथम उपलब्धि परीक्षण के निर्माण हेतु उपलब्ध सामग्री के साथ-साथ कक्षा-9 के संस्कृत विषय के विभिन्न सम्प्रत्ययों का गहराई से

*शोधार्थी, शिक्षा विभाग, शिक्षा विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र)
**एसोशिएट प्रोफेसर, शिक्षा विभाग, शिक्षा विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र)

अध्ययन किया गया। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य शोधार्थियों द्वारा निर्मित किये गये उपलब्धि परीक्षणों का भी अध्ययन करके संस्कृत उपलब्धि परीक्षण का प्राथमिक प्रारूप तैयार किया गया, जिसमें 80 बहुविकल्पीय एकांशों को रखा गया। विषय विशेषज्ञों के सुझावों के आधार पर कुछ एकांशों को हटाया गया, साथ ही कुछ नवीन लिखित उत्तरीय एकांशों को जोड़कर परीक्षण में आवश्यक सुधार करके संस्कृत उपलब्धि परीक्षण के द्वितीय प्रारूप में कुल 52 एकांशों (40 बहुविकल्पीय एवं 12 लिखित उत्तरीय) का चयन किया गया। परीक्षण के द्वितीय प्रारूप के प्रारम्भिक परीक्षण का प्रशासन कक्षा-9 के संस्कृत विषय के 49 विद्यार्थियों वाले एक प्रतिनिधिक न्यादर्श पर करके आँकड़ों का एकत्रीकरण किया गया। प्राप्त आँकड़ों की सहायता से परीक्षण के प्रत्येक एकांश का विश्लेषण कर, एकांश कठिनता मान तथा एकांश विभेदन सूचकांक ज्ञात किया गया। एकांश कठिनता मान तथा एकांश विभेदन सूचकांक ज्ञात करने के पश्चात् 35 एकांशों युक्त संस्कृत उपलब्धि परीक्षण का अन्तिम प्रारूप प्राप्त हुआ। विभक्तार्ध विश्वसनीयता विधि स्पीयरमैन ब्राउन प्रोफेसी सूत्र द्वारा परीक्षण की विश्वसनीयता को ज्ञात किया गया, जिसका मान 0.68 प्राप्त हुआ, जो कि उच्च (high/strong) धनात्मक श्रेणी में है। संस्कृत विषय के विशेषज्ञों, शिक्षक-प्रशिक्षकों तथा माध्यमिक स्तर पर अध्यापन करने वाले शिक्षकों से विचार-विमर्श कर परीक्षण की आमुख तथा अन्तर्विषय वैधता का निर्धारण किया गया।

प्रमुख शब्दावली : उपलब्धि, मानकीकरण, वैधता, विश्वसनीयता, कठिनाई स्तर एवं विभेदीकरण क्षमता।

प्राय: परीक्षण शब्द से तात्पर्य ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करने से है जिसके द्वारा व्यक्ति, वस्तु या घटना की वास्तविकता, विशेषता को एक निश्चित विशेष परिस्थिति में प्रदर्शित कर सके। विद्यालयों में छात्रों ने विभिन्न विषयों में कितना ज्ञान अर्जित किया है? इसका मापन करने के लिए सम्प्राप्ति/उपलब्धि परीक्षणों का प्रयोग किया जाता है। व्यावहारिक भाषा में परीक्षण प्रश्नों की वह श्रृंखला होती है जो व्यक्ति, वस्तु या घटना के मापे जाने वाले गुणों का प्रतिनिधित्व करती है। मनोविज्ञान एवं शिक्षाशास्त्र में गुणों को भौतिक विज्ञान की भाँति सीधे-सीधे मापनी बनाकर प्रत्यक्ष रूप से नहीं मापा जा सकता। इसमें व्यक्ति से क्रिया कराई जाती है। फिर इन क्रियाओं के आधार पर उसके गुणों का अप्रत्यक्ष मापन किया जाता है। मनोविज्ञान एवं सामाजिक विज्ञानों में इन्हीं

परीक्षणों के माध्यम से मापन या मूल्यांकन का कार्य किया जाता है। अनुसन्धान प्रक्रिया में इनका प्रयोग विश्वसनीय एवं वैध सूचनाएँ प्राप्त करने के लिए किया जाता है। चूँकि यह परीक्षण मानकीकृत होते हैं, इसलिए इनके द्वारा प्राप्त सूचनाएँ वस्तुनिष्ठ एवं विश्वसनीय होती है तथा बाद में इनके विश्लेषण द्वारा विश्वसनीय परिणाम भी निकाले जा सकते हैं।

मनोवैज्ञानिक परीक्षण को परिभाषित करने के विशेष संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि ''मनोवैज्ञानिक परीक्षण एक मानकीकृत उपकरण होता है, जो कि व्यक्तित्व के एक या उससे अधिक पहलुओं को मापने के लिए विकसित किया जाता है। इसके लिए शाब्दिक/अशाब्दिक उत्तरों के न्यादर्शों या फिर व्यवहार के अन्य माध्यमों का प्रयोग किया जाता है।'' **फ्रीमैन** के अनुसार- ''शैक्षिक सम्प्राप्ति का परीक्षण वह है, जिसे किसी विशेष विषय या विषयों के समूह में ज्ञान, बोध या कौशलों के मापन के लिए बनाया गया है।'' **ईबेल** के अनुसार- ''उपलब्धि परीक्षण वह अभिकल्प है, जो विद्यार्थी के द्वारा ग्रहण किये गये ज्ञान, कुशलता या क्षमता का मापन करता है।'' अत: कहा जा सकता है कि 'उपलब्धि परीक्षण का तात्पर्य ऐसे परीक्षणों से है, जो एक निश्चित समयावधि के प्रशिक्षण के पश्चात् किसी क्षेत्र विशेष में व्यक्ति के ज्ञान का मापन करते हैं। ये परीक्षण प्राय: शिक्षा के उद्देश्यों पर आधारित होते हैं। यह परीक्षण विभिन्न विषयों में ज्ञान के मापन के अतिरिक्त अध्यापक को यह जानने में भी सहायता प्रदान करते है, कि उसे शिक्षण कार्य में किस सीमा तक सफलता प्राप्त हुई।'

परीक्षण निर्माण तथा मानकीकरण के चरण

उपलब्धि परीक्षण के निर्माण और मानकीकरण की प्रक्रिया में कुल चार अग्रलिखित प्रमुख चरण शामिल हैं:

- **प्रथम चरण**- नियोजन।
- **द्वितीय चरण**- निर्माण : परीक्षण के एकांशों का लेखन।
- **तृतीय चरण**- परीक्षण के एकांशों का गुणात्मक एवं मात्रात्मक मूल्यांकन।
- **चतुर्थ चरण**- परीक्षण की विश्वसनीयता तथा वैधता का निर्धारण।

प्रथम चरण : नियोजन

योजना बनाना परीक्षण निर्माण का प्रथम सोपान है। परीक्षण की योजना बनाने वाले इस प्रथम सोपान के अन्तर्गत परीक्षण से संबंधित अनेक निर्णय लिए जाते हैं। परीक्षण की उचित योजना के लिए, शोधार्थी निम्नलिखित पहलुओं को ध्यान में रखता है, जैसे-

किससे, क्या, कब और कैसे मापना है? परीक्षण के लिए विषयवस्तु, शिक्षण उद्देश्यों, प्रश्नों के प्रकार, प्रश्नों की संख्या, समयावधि, अंकन विधि, परीक्षण के प्रारूप जैसी विभिन्न बातों को निर्धारित किया जाता है। इस चरण में शामिल प्रमुख सोपान निम्नलिखित हैं:

i. परीक्षण समष्टि तथा परीक्षण उद्देश्य का परिभाषीकरण।
ii. मापन में सम्मिलित बौद्धिक स्तरों का परिभाषीकरण।
iii. उपलब्धि परीक्षण का मूल पत्र तैयार करना।

परीक्षण समष्टि तथा परीक्षण उद्देश्य का परिभाषीकरण : परीक्षणसमष्टि के रूप में शोधकर्त्ता द्वारा वर्तमान समय में अध्ययनरत कक्षा 9 के संस्कृत भाषा के विद्यार्थियों को चयनित किया गया है। प्रस्तुत शोध में परीक्षण का उद्देश्य संस्कृत भाषा की शैक्षिक उपलब्धि को ज्ञात करना है।

तालिका-1

संस्कृत उपलब्धि परीक्षण मूल पत्र (प्रथम प्रारूप) : उद्देश्य अनुरूप विभाजन

क्र. सं.	उद्देश्य प्रकरण	ज्ञानात्मक	अवबोधात्मक	क्रियात्मक	कुल
1.	अस्माकं राष्ट्रियप्रतीकानि (गद्य)	4 (40%)	3 (30%)	3 (30%)	10 (19.23%)
2.	आदिकविः वाल्मीकिः (गद्य)	5 (55.55%)	2 (22.22%)	2 (22.22%)	9 (17.30%)
3.	पुण्यसलिला गंगा (गद्य)	1 (12.5%)	5 (62.5%)	2 (25%)	8 (15.38%)
4.	सुभाषितानि (पद्य)	2 (22.22%)	5 (55.55%)	2 (22.22%)	9 (17.30%)
5.	नारी-महिमा (पद्य)	3 (37.5%)	3 (37.5%)	2 (25%)	8 (15.38%)
6.	नीति-नवनीतम् (पद्य)	2 (25 %)	5 (62.5%)	1 (12.5 %)	8 (15.38%)
	कुल	17 (32.6923077%)	23 (44.2307692%)	12 (23.0769231%)	52 (100%)

मापन में सम्मिलित बौद्धिक स्तरों का परिभाषीकरण : प्रस्तुत शोध में शोधकर्त्ता द्वारा उपलब्धि परीक्षण के निर्माण के समय मूलभूत दिशा-निर्देशों के अनुसार प्रमुख रूप से ज्ञान के सभी पक्षों (ज्ञानात्मक, अवबोधात्मक एवं क्रियात्मक) का चयन किया गया है।

उपलब्धि परीक्षण का ब्लू प्रिन्ट (मूल पत्र) तैयार करना : परीक्षण की विषयवस्तु, शिक्षण उद्देश्य, प्रश्नों के प्रकार तथा प्रश्नों की संख्या इत्यादि सुनिश्चित करने के उपरान्त शोधकर्त्ता पूरे परीक्षण का एक ब्लू प्रिन्ट (मूल पत्र) तैयार करता है। यह मूल पत्र शोधार्थी को आरम्भ से अन्त तक का मार्गदर्शन करता रहता है। मूल पत्र में विषयवस्तु के विभिन्न प्रकरणों तथा शिक्षण उद्देश्यों को दिए जाने वाले भार को स्पष्ट किया जाता है।

तालिका-2

संस्कृत उपलब्धि परीक्षण मूल पत्र (अन्तिम प्रारूप) : उद्देश्य अनुरूप विभाजन

क्र. सं	उद्देश्य प्रकरण	ज्ञानात्मक	अवबोधात्मक	क्रियात्मक	कुल
1.	अस्माकं राष्ट्रियप्रतीकानि (गद्य)	3 (37.5%)	2 (25%)	3 (37.5%)	8 (22.85%)
2.	आदिकविः वाल्मीकिः (गद्य)	3 (60%)	0 0	2 (40%)	5 (14.28%)
3.	पुण्यसलिला गंगा (गद्य)	1 (25%)	1 (25%)	2 (50%)	4 (11.42%)
4.	सुभाषितानि (पद्य)	2 (33.33%)	2 (33.33%)	2 (33.33%)	6 (17.14%)
5.	नारी-महिमा (पद्य)	2 (33.33%)	2 (33.33%)	2 (33.33%)	6 (17.14%)
6.	नीति-नवनीतम् (पद्य)	2 (33.33%)	3 (50%)	1 (16.66%)	6 (17.14%)
	कुल	13 (37.1428571%)	10 (28.5714286%)	12 (34.2857143%)	35 (100%)

द्वितीय चरण- निर्माण : परीक्षण के एकांशों का लेखन

शोधकर्त्ता ने संस्कृत उपलब्धि परीक्षण के द्वारा ज्ञानात्मक, अवबोधात्मक, एवं क्रियात्मक सभी पक्षों के मूल्यांकन के लिए बहुविकल्पीय एवं निबन्धात्मक, दोनों प्रकार के प्रश्नों का निर्माण किया है। बहुविकल्पीय प्रकार के प्रश्नों के द्वारा जहाँ निष्पक्ष रूप से वर्गीकृत किया जा सका, वही पर निबन्धात्मक, प्रश्नों के द्वारा उनकी वास्तविक अभिव्यक्ति को भी देखा जा सका। इस प्रकार मिश्रित प्रश्न आधारित परीक्षण कुशल है। संस्कृत उपलब्धि परीक्षण में बहुविकल्पीय एवं निबन्धात्मक प्रश्नों को मिलाकर कुल 52 पदों को तैयार किया गया जिनकी विषय विशेषज्ञों के द्वारा समीक्षा भी कराई गई और फिर मार्गदर्शी अध्ययन (Pilot Study) के लिए संस्कृत उपलब्धि परीक्षण का प्रथम प्रारूप तैयार किया गया।

तृतीय चरण- परीक्षण के एकांशों का गुणात्मक एवं मात्रात्मक मूल्यांकन

परीक्षण के एकांशों का विषय विशेषज्ञों के द्वारा गुणात्मक मूल्यांकन : संस्कृत उपलब्धि परीक्षण के निर्माण का प्रथम प्रारूप पर्यवेक्षक और शिक्षा के विशेषज्ञों (विशेष रूप से शैक्षिक मनोवैज्ञानिकों एवं संस्कृत भाषा शिक्षण के विषय विशेषज्ञों) को दिया गया। उन्हें अस्पष्ट पदों को इंगित करने और अपनी विशेषज्ञता के आधार पर परीक्षण के संशोधन में उपयोगी सुझाव हेतु आग्रह किया गया। इस प्रक्रिया ने शोधकर्त्ता को भाषा और परीक्षण की अन्य कठिनाइयों को सुधारने में मदद की। उपलब्धि परीक्षण के महत्त्वपूर्ण मूल्यांकन के लिए विशेषज्ञों से अनुरोध किया गया तथा उनके द्वारा यह सुनिश्चित किया गया कि प्रयुक्त परीक्षण के सभी पद संबंधित क्षेत्र से हैं तथा वे विशिष्ट उद्देश्यों का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। इस प्रकार शोधकर्त्ता ने प्रयुक्त परीक्षण में आवश्यक सुधार तथा संशोधन किया। अन्ततोगत्वा बहुविकल्पीय एवं निबन्धात्मक कुल 35 पदों को प्राप्त करने वाले संस्कृत उपलब्धि परीक्षण के अन्तिम प्रारूप को यादृच्छिक रूप से तैयार किया गया था।

परीक्षण के एकांशों का मात्रात्मक मूल्यांकन : प्रारम्भिक/मार्गदर्शी चरण (Pilot Study)– मार्गदर्शी या प्रारम्भिक अध्ययन के लिए 'संस्कृत उपलब्धि परीक्षण' को उत्तर प्रदेश राज्य के वाराणसी जनपद के 'किसान इण्टर कालेज (वाराणसी)' के कक्षा 9 के संस्कृत भाषा के विद्यार्थियों के प्रतिनिधि स्वरूप न्यादर्श पर प्रशासित किया गया जिसमें वर्तमान समय में अध्ययनरत कुल 49 विद्यार्थियों की सहभागिता रही। साथ ही शोधार्थी द्वारा यह भी ध्यान में रखा गया कि उन्हें परीक्षण सामग्री का ज्ञान पहले से ही

होना चाहिए। अर्थात् वे परीक्षण से संबंधित सभी सामग्री (पाठों) का अध्ययन कर चुके हों। चार विकल्पों वाले कुल 40 बहुविकल्पीय एकांशों के साथ 12 अन्य निबंधात्मक एकांश भी परीक्षण में सम्मिलित किये गये थे। इस प्रकार परीक्षण में कुल 52 एकांशों को सुनिश्चित किया गया था। उन्हें बहुविकल्पीय एकांशों के उत्तर/प्रतिक्रिया स्वरुप विभिन्न विकल्पों क, ख, ग या घ में से उपयुक्त विकल्प पर प्रतिक्रिया पत्रक में सही का चिन्ह (✓) लगाना था। इसके अतिरिक्त निबंधात्मक एकांशों की प्रतिक्रिया के लिए उन्हें पूरी तरह से मुक्त रखा गया, जिससे कि वे अपनी वास्तविक अभिव्यक्ति को प्रतिक्रिया पत्रक में में व्यक्त कर सकें। हालांकि पूर्व या शीघ्र प्रतिक्रिया हेतु विद्यार्थियों को कोई समय सीमा नहीं दी गई थी, लेकिन सभी प्रतिभागियों को सामान्य रूप से अधिकतम 3 घण्टे का समय प्रदान किया गया था। परिणाम स्वरुप प्राप्त प्राप्तांकों/प्रदत्तों की गणना पर्यवेक्षक एवं विशेषज्ञों के मार्गदर्शन में किया गया।

एकांश विश्लेषण

प्रश्नों की मनोमितीय (Psychometric) विशेषताओं को आंकिक दृष्टि से विश्लेषित करने की प्रक्रिया को पद/एकांश विश्लेषण कहते हैं। परीक्षण निर्माता एकांशों को लिख देने के बाद तथा विशेषज्ञों के सुझाव के आलोक में पर्याप्त संशोधन कर लेने के बाद उनका एकांश विश्लेषण करता है। गे (1980) के अनुसार– ''एकांश विश्लेषण मूल रूप से एकांशों की प्रभावशीलता की माप करने के ख्याल से प्रत्येक एकांश के प्रति किये गये अनुक्रियाओं के प्रारूप का एक परीक्षण हैं।'' इस प्रकार परीक्षण निर्माता को यह पता चल जाता है कि कौन से एकांश प्रभावशील है? कौन सा एकांश अप्रभावशील हैं? कौन सा एकांश व्यर्थ हैं? तथा किन एकांशों में अभी परिमार्जन की आवश्यकता है। एकांश विश्लेषण के आधार पर पदों (प्रश्नों) को स्वीकार/अस्वीकार किया जाता है। मूलत: परीक्षण निर्माता का मुख्य उद्देश्य एक ऐसे परीक्षण को तैयार करना होता है, जो अपने कार्य को कम समय, कम धन तथा कम शक्ति के व्यय से सफलता पूर्वक कर सके। अत: उसका उद्देश्य परीक्षण में केवल ऐसे प्रश्नों को रखना होता है, जो आवश्यक तकनीकी विशेषताएँ रखते हों। पद विश्लेषण में प्रश्नों की दो तकनीकी विशेषताओं जैसे– कठिनाई स्तर एवं विभेदन क्षमता की गणना की जाती है।

एकांश का कठिनाई सूचकांक

किसी प्रश्न के कठिनाई स्तर से तात्पर्य छात्रों की दृष्टि में प्रश्न की कठिनता से है। कठिनाई स्तर को D.V. या P. अक्षर से तथा इसके मान को प्रतिशत में व्यक्त किया जाता

है। कठिनाई सूचकांक का मान 0.00 से +1.00 तक हो सकता है। नन्नली (1972) के अनुसार- चार या इससे अधिक विकल्पों से मिलकर निर्मित किसी बहुविकल्पीय परीक्षण के लिए, 0.20 से 0.80 के बीच की सीमा में आने वाले सभी एकांशों का चयन किया जाना चाहिए। बहुत आसान या बहुत कठिन पाये जाने वाले सभी एकांशों को बाहर रखा जाना चाहिए। प्रस्तुत शोध में प्रयुक्त संस्कृत उपलब्धि परीक्षण के एकांशों की कठिनाई सूचकांक की गणना निम्नलिखित सूत्र से की गई है-

$$DV(P) = R/N$$

जहाँ, DV(P) = एकांश का कठिनाई स्तर
R = सही उत्तर देने वाले व्यक्तियों की संख्या
N = व्यक्तियों की कुल संख्या

एकांश की विभेदन शक्ति

एकांश की विभेदन शक्ति एकांश विश्लेषण का दूसरा महत्त्वपूर्ण पहलू है। एकांश के विभेदन शक्ति से तात्पर्य एकांश की वैसी शक्ति से होता है, जिसके द्वारा एकांश विभिन्न उत्तरदाताओं के बीच स्पष्ट विभेद कर पाता है। गे (1980) के अनुसार- ''विभेदन शक्ति से तात्पर्य उस क्षमता से होता है, जिसमे एकांश किसी परीक्षण पर उच्च उपलब्धि तथा निम्न उपलब्धि प्राप्तकर्ता के बीच अन्तर करता है।'' विभेदन क्षमता को पद वैधता भी कहते हैं। विभेदन क्षमता को D.P. अक्षर से तथा इसके मान को दशमलव अंक के रूप में व्यक्त किया जाता है। प्रस्तुत शोध में प्रयुक्त संस्कृत उपलब्धि परीक्षण के एकांशों की विभेदन सूचकांक की गणना निम्नलिखित सूत्र से की गई है-

$$DP = RH\text{-}RL/N$$

जहाँ, DP = एकांश का कठिनाई स्तर
RH = उच्च समूह में सही उत्तर देने वाले व्यक्तियों की कुल संख्या
RL = निम्न समूह में सही उत्तर देने वाले व्यक्तियों की कुल संख्या
N = किसी एक समूह के व्यक्तियों की कुल संख्या

प्रस्तुत शोध उपकरण में विभेदन शक्ति की गणना के लिए सबसे पहले कुल 52 एकांश वाले संस्कृत उपलब्धि परीक्षण (उपकरण) को विद्यार्थियों के एक प्रतिनिधि न्यादर्श (49) पर प्रशासित किया गया। प्रत्येक एकांश की सही अनुक्रिया करने पर एक-एक अंक दिया गया तथा गलत अनुक्रिया करने पर शून्य अंक प्रदान किये गये। प्रत्येक उत्तरदाता द्वारा सभी एकांशों पर सही उत्तर के लिए प्राप्त अंकों का एक योग तैयार किया

गया। तत्पश्चात् कुल प्राप्तांकों के आधार पर अवरोही क्रम में सुव्यवस्थित किया गया। फिर उत्तर पत्रकों के दो समूह–उच्च समूह तथा निम्न समूह बनाये गये। ऊपर के 27% (14) विद्यार्थियों के उत्तर पत्रकों को उच्च समूह में तथा नीचे के 27% (14) विद्यार्थियों के उत्तर पत्रकों को निम्न समूह में रखा गया। दोनों समूह में विद्यार्थियों की संख्या (14) समान थी, जिसे N से व्यक्त किया गया है। फिर प्रत्येक प्रश्न के लिए उच्च समूह के विद्यार्थियों के द्वारा दिए गये सही उत्तरों की संख्या (RH)तथा इसी प्रकार से निम्न समूह के छात्रों के द्वारा दिए गये सही उत्तरों की संख्या (RL) ज्ञात की गई। इसके बाद प्रत्येक प्रश्न के लिए RL को RH से घटा दिया गया तथा प्राप्त अन्तर को N से भाग दिया गया। तत्पश्चात् प्राप्त मान संबंधित प्रश्न (पद) के लिए विभेदन क्षमता गुणांक हुआ जिसे DP संकेताक्षर से अभिव्यक्त किया गया।

तालिका–3

विभेदन सूचकांक

प्रसार	श्रेणी	संस्तुति
> 0.39	उत्कृष्ट	एकांश को सम्मिलित कर सकते हैं।
0.30 – 0.39	उत्तम	एकांश में सुधार अपेक्षित है।
0.20 – 0.29	औसत	एकांश समीक्षा की पुन: आवश्यकता है।
0.00 – 0.20	घटिया	एकांश को अस्वीकृत या गहन समीक्षा की आवश्यकता है।
< – 0.01	सबसे खराब	एकांश को पूर्णतया हटा दिया जाये।

तालिका–4

संस्कृत उपलब्धि परीक्षण का एकांश विश्लेषण

पद संख्या	प्राप्तांक	कठिनाई स्तर	उच्च समूह	निम्न समूह	अन्तर	विभेदन क्षमता	टिप्पणी
1	43	0.87	13	13	0	0	अस्वीकृत
2	8	0.16	6	0	6	0.42	स्वीकृत
3	41	0.83	13	9	4	0.28	स्वीकृत
4	23	0.46	11	5	6	0.42	स्वीकृत
5	31	0.63	9	8	1	0.07	अस्वीकृत
6	31	0.63	12	4	8	0.57	स्वीकृत
7	16	0.32	8	1	7	0.5	स्वीकृत
8	18	0.36	9	1	8	0.57	स्वीकृत

क्रमश:

पद संख्या	प्राप्तांक	कठिनाई स्तर	उच्च समूह	निम्न समूह	अन्तर	विभेदन क्षमता	टिप्पणी
9	10	0.20	3	3	0	0	अस्वीकृत
10	13	0.26	2	5	−3	−0.21	अस्वीकृत
11	5	0.10	0	3	−3	−0.21	अस्वीकृत
12	9	0.18	2	2	0	0	अस्वीकृत
13	23	0.46	12	2	10	0.71	स्वीकृत
14	19	0.38	10	2	8	0.57	स्वीकृत
15	25	0.51	10	5	5	0.35	स्वीकृत
16	23	0.46	6	4	2	0.14	अस्वीकृत
17	17	0.34	10	0	10	0.71	स्वीकृत
18	21	0.42	5	7	−2	−0.14	अस्वीकृत
19	7	0.14	1	4	−3	−0.21	अस्वीकृत
20	7	0.14	2	3	−1	−0.07	अस्वीकृत
21	16	0.32	6	4	2	0.14	अस्वीकृत
22	2	0.04	1	0	1	0.07	अस्वीकृत
23	25	0.51	10	6	4	0.28	स्वीकृत
24	21	0.42	8	3	5	0.35	स्वीकृत
25	10	0.20	4	2	2	0.14	अस्वीकृत
26	26	0.53	12	5	7	0.5	स्वीकृत
27	14	0.28	5	2	3	0.21	स्वीकृत
28	26	0.53	13	2	11	0.78	स्वीकृत
29	35	0.71	14	3	11	0.78	स्वीकृत
30	35	0.71	14	3	11	0.78	स्वीकृत
31	21	0.42	5	7	−2	−0.14	अस्वीकृत
32	32	0.65	14	6	8	0.57	स्वीकृत
33	10	0.20	1	6	−5	−0.35	अस्वीकृत
34	22	0.44	7	5	2	0.14	अस्वीकृत
35	24	0.48	12	5	7	0.5	स्वीकृत
36	8	0.16	5	0	5	0.35	सुधार के बाद स्वीकृत

क्रमशः

पद संख्या	प्राप्तांक	कठिनाई स्तर	उच्च समूह	निम्न समूह	अन्तर	विभेदन क्षमता	टिप्पणी
37	27	0.55	10	7	3	0.21	स्वीकृत
38	12	0.24	7	2	5	0.35	स्वीकृत
39	16	0.32	8	2	6	0.42	स्वीकृत
40	3	0.06	0	1	−1	−0.07	अस्वीकृत
41	45	0.91	14	10	4	0.28	स्वीकृत
42	31	0.63	13	3	10	0.71	स्वीकृत
43	45	0.91	14	10	4	0.28	स्वीकृत
44	43	0.87	14	9	5	0.35	स्वीकृत
45	34	0.69	14	4	10	0.71	स्वीकृत
46	37	0.75	14	6	8	0.57	स्वीकृत
47	35	0.71	14	3	11	0.78	स्वीकृत
48	16	0.32	11	0	11	0.78	स्वीकृत
49	35	0.71	14	1	13	0.92	स्वीकृत
50	18	0.28	9	0	9	0.64	स्वीकृत
51	16	0.32	9	1	8	0.57	स्वीकृत
52	23	0.69	13	3	10	0.71	स्वीकृत

संस्कृत उपलब्धि परीक्षण का अन्तिम प्रारूप तैयार करना

इस प्रकार संस्कृत उपलब्धि परीक्षण के प्रथम प्रारूप में कुल 52 पद सम्मिलित किये गये थे जिसे शोधार्थी द्वारा पद विश्लेषण के सभी मानदण्डों (अन्तिम परीक्षण) के अनुसार पुनः सुव्यवस्थित किया गया। अन्ततोगत्वा जिन एकांशों की विभेदन क्षमता का मान 0.16 से कम था, उन सभी को विशेषज्ञों के निर्देशानुसार अस्वीकृत कर दिया गया। इस प्रकार शोधार्थी द्वारा निर्मित संस्कृत उपलब्धि परीक्षण के अन्तिम प्रारूप में कुल 35 पद चयनित हुए।

चतुर्थ चरण : उपलब्धि परीक्षण की विश्वसनीयता तथा वैधता का निर्धारण

उपलब्धि परीक्षण की विश्वसनीयता : विश्वसनीयता किसी भी परीक्षण प्राप्तांक का एक प्रमुख गुण होता है। सरल अर्थों में विश्वसनीयता से तात्पर्य प्राप्तांकों की परिशुद्धता

से होता है। कोई भी परीक्षण जब वर्तमान समय तथा कुछ दिन बीतने के बाद संगत परिणाम देता है, तो इस प्रकार प्राप्त अंकों की स्थिरता विश्वसनीयता कहलाती है। परीक्षण की विश्वसनीयता का संबंध मापन की चर त्रुटियों से है। परीक्षण की यह विशेषता बताती है कि परीक्षण किस सीमा तक चर त्रुटियों से मुक्त है। विश्वसनीयता का एक अन्य शाब्दिक अर्थ विश्वास करने की सीमा से है। अत: विश्वसनीय परीक्षण वह परीक्षण है, जिस पर विश्वास किया जा सके। अनास्तेसी के अनुसार- ''परीक्षण की विश्वसनीयता से अभिप्राय भिन्न-भिन्न अवसरों पर, या समतुल्य पदों के भिन्न-भिन्न विन्यासों पर, किसी व्यक्ति के द्वारा प्राप्त अंकों की संगति से है।'' स्टोडोला व स्टोर्डल के अनुसार- ''विश्वसनीयता को किसी समूह के व्यक्तियों के लिए समतुल्य परीक्षणों पर प्राप्तांकों के दो या दो से अधिक विन्यासों के मध्य सहसंबंध के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।'' विश्वसनीयता को स्थिरता गुणांक, समतुल्यता गुणांक तथा सजातीयता गुणांक के रूप में परिभाषित किया जाता है। विश्वसनीयता गुणांक ज्ञात करने की पाँच मुख्य विधियाँ हैं- परीक्षण पुन:परीक्षण विश्वसनीयता विधि, समतुल्य परीक्षण विश्वसनीयता विधि, अर्द्धविच्छेद विश्वसनीयता विधि, तार्किक समतुल्यता विश्वसनीयता विधि तथा होय्ट विश्वसनीयता विधि।

अर्द्धविच्छेद विश्वसनीयता : आन्तरिक संगति विश्वसनीयता ज्ञात करने का विभक्तार्द्ध (अर्द्धविच्छेद) विश्वसनीयता विधि (split half reliability method) सबसे अधिक लोकप्रिय है। इस विधि में परीक्षण को व्यक्तियों के एक समूह पर पहले क्रियान्वयन कर लिया जाता है। इसके बाद परीक्षण को दो बराबर-बराबर भागों में बाँट दिया जाता है। यह विभाजन दो तरीकों से किया जाता है। विभाजन की पहली विधि को सम-विषम विधि कहा जाता है। विभाजन की दूसरी विधि वह है जिसमें परीक्षण के कुल एकांशों का प्रथम अर्द्धांश भाग (first half) एक तरफ एवं द्वितीय अर्द्धांश भाग (second half) दूसरी तरफ होता है। प्रस्तुत शोध में प्रयुक्त संस्कृत उपलब्धि परीक्षण के विश्वसनीयता गुणांक की गणना इसी विधि से की गई है जिसमें कुल 52 एकांशों वाले परीक्षण के 26 एकांश को प्रथम अर्द्धांश में तथा शेष 26 एकांश को द्वितीय अर्द्धांश में रखा गया जिससे कुल 49 प्रयोज्यों के दो-दो स्कोर प्राप्त हुए जिसके आधार पर एस.पी.एस.एस. की सहायता से पियर्सन (r) की गणना की गई, जो कि अर्द्ध परीक्षण विश्वसनीयता (half test reliability) को बतलाता है। इस सहसंबंध के आधार पर स्पीयरमैन ब्राउन प्रोफेसी सूत्र द्वारा परीक्षण की विश्वसनीयता को ज्ञात किया गया, जो कि r = .511 प्राप्त हुआ।

चूँकि यह आधे परीक्षण की विश्वसनीयता है, इसलिए सम्पूर्ण परीक्षण की विश्वसनीयता ज्ञात करने के लिए स्पीयरमैन ब्राउन प्रोफेसी सूत्र (rtt = 2r/1+r) का प्रयोग किया गया है। अत: सम्पूर्ण परीक्षण की विश्वसनीयता गुणांक 0.68 है, जो कि उच्च (high/ strong) धनात्मक श्रेणी में है।

उपलब्धि परीक्षण की वैधता

परीक्षण कुशलता का पहला प्रमुख पहलू विश्वसनीयता तथा दूसरा प्रमुख पहलू वैधता होती है। नि:सन्देह कुछ परीक्षण ऐसे होते हैं, जो अपने उस उद्देश्य की पूर्ति सफलता पूर्वक नहीं करते हैं जिसके लिए उसे प्रयुक्त किया जा रहा होता है। अत: परीक्षण अनुप्रयोग के समय सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह होता है कि क्या प्रयोग में लाया जाने वाला परीक्षण अपने उद्देश्य की पूर्ति करता है? परीक्षण की वैधता से तात्पर्य परीक्षण की उस क्षमता से होता है, जिसके सहारे वह उस गुण या कार्य को मापता है, जिसे मापने के लिए उसे बनाया गया है। **थॉर्नडाइक** के अनुसार– ''कोई भी मापन विधि उस सीमा तक वैध है, जिस सीमा तक वह उस कार्य के किसी सफल मापन से सह संबंधित है, जिसके विषय में पूर्व कथन हेतु उसकी रचना की गई है।'' **एनास्टेसी** एवं **उर्विना** (2002) के अनुसार- ''परीक्षण वैधता से तात्पर्य इस बात से होता है कि परीक्षण क्या मापता है और कितनी बारीकी से मापता है।'' इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि परीक्षण एक प्रमुख सूचकांक है जिसके सहारे हमें एक अर्थ में परीक्षण की सत्यता का पता चलता है। परीक्षण की वैधता ज्ञात करने के लिए प्रयुक्त की जाने वाली विभिन्न विधियों को दो मुख्य भागों में बाँटा गया है। पहला तार्किक विधियाँ जिसके अन्तर्गत आन्तरिक कसौटी पर आधारित विधियाँ सम्मिलित हैं तथा दूसरा सांख्यिकीय विधियाँ जिसके अन्तर्गत बाह्य कसौटी पर आधारित विधियाँ सम्मिलित हैं। परीक्षण की वैधता सुनिश्चित करने की तार्किक विधियाँ सांख्यिकीय विधियों से अधिक प्रभावशाली सिद्ध हो सकती हैं। अत: प्रस्तुत शोध में वैधता को सुनिश्चित करने के लिए तार्किक विधियों को व्यवहार में लाया गया है।

वैधता ज्ञात करने की तार्किक विधियाँ

वैधता ज्ञात करने की तार्किक विधियों के अन्तर्गत तर्कों के आधार पर परीक्षण की विश्वसनीयता को स्पष्ट किया जाता है, क्योंकि इन विधियों में किसी आन्तरिक कसौटी के आधार पर वैधता को सुनिश्चित किया जाता है। इसलिए इस प्रकार की वैधता को

आन्तरिक कसौटी पर आधारित वैधता भी कहा जाता है। इसमें परीक्षण के निर्माण, परीक्षण के प्रयोग तथा परीक्षण के रूप से संबंधित अनेक कारकों की व्याख्या करके परीक्षण की वैधता के संबंध में निर्णय लिया जाता है। इस विधि से प्राप्त वैधता को रूप वैधता, विषयवस्तु वैधता, तार्किक वैधता या कारक वैधता के रूप में सम्बोधित किया जाता है, जिसे तार्किक वैधता के प्रकार भी कहा जा सकता है। प्रत्यक्ष/रूप/आमुख वैधता से तात्पर्य इस बात से होता है, कि परीक्षण क्या मापते दिखता है? जब कोई परीक्षण एक सरसरी निगाह से देखने पर वैध मालूम पड़ता है, तो इसे ही परीक्षण की प्रत्यक्ष वैधता कहा जाता है। इसके अन्तर्गत परीक्षण के बाह्य रूप तथा प्रश्नों की प्रकृति के संबंध में वैधता स्थापित की जाती है। यदि परीक्षार्थियों को परीक्षण के संबंध में यह आभास होता है, कि परीक्षण उनसे संबंधित है तो परीक्षण को रूप वैध परीक्षण कहते हैं। परीक्षण की रूप वैधता को सुनिश्चित करने के लिए परीक्षण में ऐसे प्रश्न रखने चाहिए जो परीक्षार्थियों के परिवेश से संबंधित हों। अतः इस दृष्टिकोण के आधार पर प्रस्तुत शोध में प्रयुक्त उपकरण की रूप वैधता को सुनिश्चित किया गया है। विषयवस्तु वैधता/अन्तर्विषय वैधता/सामग्री वैधता का संबंध अन्तर्विषय या परीक्षण द्वारा मापे जाने वाले गुण या क्षेत्र की सुसंगति से होता है। इस प्रकार विषयगत वैधता में यह देखा जाता है कि क्या परीक्षण उस विषयवस्तु का उचित ढंग से मापन कर रहा है, जिसके लिए उसका प्रयोग किया जाता है। विषयवस्तु वैधता/अन्तर्विषय वैधता ज्ञात करते समय यह देखा जाता है कि परीक्षण में सम्मिलित किये गये प्रश्न पाठ्यक्रम का उचित ढंग से प्रतिनिधित्व कर रहे हैं या नहीं। इस वैधता को सुनिश्चित करने के लिए परीक्षण बनाते समय विशिष्टीकरण तालिका की रचना की जाती है। किसी परीक्षण में विषयगत वैधता हो, इसके लिए कम से कम दो बातों का होना अनिवार्य है– एकांश वैधता तथा प्रतिदर्शन वैधता। एकांश वैधता से यह पता चल जाता है कि परीक्षण के एकांश उस क्षेत्र के गुणों या व्यवहारों का सही–सही मापन कर रहे हैं या नहीं जिसके लिए उन्हें बनाया गया है। प्रतिदर्शन वैधता से यह पता चलता है कि कितना ठीक ढंग से परीक्षण द्वारा मापे जाने वाले क्षेत्र का प्रतिदर्शन किया गया है। प्रस्तुत शोध में प्रयुक्त उपकरण की अन्तर्विषय वैधता का निर्धारण विशेषज्ञों की राय के आधार पर किया गया तथा इस क्षेत्र के विशेषज्ञों के विचारों पर ध्यान देकर और उनके सुझावों के अनुसार अपरिहार्य संशोधन किए गए।

संस्कृत उपलब्धि परीक्षण का शैक्षिक निहितार्थ

प्रस्तुत शोध कार्य में माध्यमिक शिक्षा परिषद्, प्रयागराज द्वारा निर्धारित कक्षा-9 की संस्कृत विषय की पाठ्यचर्या को आधार मानकर संस्कृत विषय की शैक्षिक उपलब्धि के मापन के लिए 'संस्कृतउपलब्धि परीक्षण' का 'निर्माण' एवं 'मानकीकरण' किया गया। अतः कक्षा- 9 के विद्यार्थियों द्वारा संस्कृत विषय में उनके द्वारा अर्जित निपुणता को जानने के लिए इस 'परीक्षण' का उपयोग किया जा सकता है। इस परीक्षण की सहायता से शिक्षक आसानी से कक्षा के अन्दर विद्यार्थियों की संस्कृत विषय की 'उपलब्धि' की तुलना कर किसी विशेष निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं साथ ही परोक्ष रूप से विद्यार्थियों के बौद्धिक विकास के बारे में एक स्थूल अनुमान लगा सकते हैं। इस उपलब्धि परीक्षण के परिणामों के आलोक में शिक्षक संस्कृत विषय के अध्यापन हेतु प्रयोग में लाई जा रही अपनी शिक्षण नीतियों में उचित एवं धनात्मक संशोधन भी कर सकते हैं। प्रस्तुत शोध कार्य में निर्मित तथा मानकीकृत 'संस्कृत उपलब्धि परीक्षण' अन्य शोधाकार्यों के लिए उनके अपने शोध कार्य में उपलब्धि परीक्षण के निर्माण के समय एक आधार प्रस्तुत करने का कार्य करेगा साथ ही वे इसका उपयोग भी अपने शोध कार्य में कर सकेंगें।

संदर्भ

चौधरी, एस. - त्यागी, एस. के. (2017). कन्स्ट्रक्शन एण्ड स्टैण्डर्डाइजेशन ऑफ़ अचीवमेंट टेस्ट इन एजुकेशनल साइकोलॉजी, एजुकेशनल क्यूस्ट, 8 (3), 817-823.

भगत, पी. - बालिया, जे.एन. (2016). कन्स्ट्रक्शन एण्डवैलिडेशन ऑफ़ अचीवमेंट टेस्ट इन साइंस, इंटरनेशनलजर्नल ऑफ़ साइंस एण्ड रिसर्च, 5 (6), 2277-2280.

सिंह, बी.के. - पटेल, एच. आर. (2013). कन्स्ट्रक्शन एण्ड स्टैण्डर्डाइजेशन ऑफ़ एन अचीवमेंट टेस्ट फॉर द स्टूडेंट्स ऑफ़ स्टैण्डर्ड इअर्थ इन द सब्जेक्ट ऑफ़ हिन्दी, इण्डियन जर्नल ऑफ़ एप्लाइड रिसर्च, 3 (2) 95-97.

शर्मा, एच.एल.- पूनम, (2017). कन्स्ट्रक्शन एण्ड स्टैण्डर्डाइजेशन ऑफ़ एन अचीवमेंट टेस्ट इन इंग्लिश ग्रामर, इंटरनेशनलजर्नल ऑफ़ एडवांस्ड एजुकेशनल रिसर्च, 2 (5), 2455-6157.

मुखीजा, जे. (2017). कन्स्ट्रक्शन ऑफ़ अचीवमेंट टेस्ट इन इंग्लिश, चेतना इंटरनेशनल जर्नल, 2 (3), 2455-8729.

टेरेसा, एल. (2019). अ गाइड फार राइटिंग एण्ड इम्प्रूविंग अचीवमेंट टेस्ट, यूनिवर्सिटी ऑफ़

साउथ फ्लोरिडा, टेम्पा, एफएल: 33620 (813) 974-2742.

महेश्वरी, वी.के. (2011). अचीवमेंट टेस्ट कैरेक्टरिस्टिक्स एण्ड कन्स्ट्रक्शन प्रोसिडर, फिलॉस्फिकल कमेंटरी अ्रन इशूज ऑफ़ टूडे, पृष्ठ- 181.

समुथा, (2013). कन्स्ट्रक्शन ऑफ़ अ गुड अचीवमेंटटेस्ट, जीसमुथा ब्लॉग स्पॉट डॉट कॉम.

सुरेश, (2012). अचीवमेंट टेस्ट, बैचलर ऑफ़ एजुकेशन इण्डिया डॉट ब्लॉग स्पॉट डॉट कॉम.

एण्डर्सन, आर. सी. (1972). हाउ टू कन्स्ट्रक्ट अचीवमेंट टेस्ट्स टू एस्सेस कम्प्रिहेंसन, रिव्यू ऑफ़ रिसर्च इन एजुकेशन, 42 (2), 145-170.

चाइल्ड, आर. ए. (1989). कन्स्ट्रप्क्टग क्लासरूम अचीवमेंट टेस्ट्स, एरिक डिगेस्ट जर्नल, नम्बर- ED 315426.

आरा, आर. (1983). कन्स्ट्रक्शन ऑफ़ अचीवमेंट टेस्ट इन हिस्ट्री फॉर स्टूडेंट्स ऑफ़ क्लास टेंथ, अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़.

पारेख, पी. जे. (2018). कन्स्ट्रक्शन एण्ड स्टैण्डर्डाइजेशन ऑफ़ अचीवमेंट टेस्ट इन साइंस फॉर स्टैण्डर्ड 8जी, इंटरनेशनल जर्नल ऑफ़ साइंटिफिक रिसर्च इन साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, 4 (2), 1205-1209.

हसन, एम. - खान, एस. (2015).अचीवमेंट टेस्ट इन इंग्लिश एण्ड मैथमेटिक्स ऑफ़ सेकेण्डरी स्कूल स्टूडेंट्स इन रिलेशन टू जेंडर डिफरेन्सेस, द इंटरनेशनलजर्नल ऑफ़ इण्डियन साइकोलॉजी, 2 (3), 155-166.

शर्मा, एच. - सरिता. (2018).कन्स्ट्रक्शन एण्ड स्टैण्डर्डाइजेशन ऑफ़ अचीवमेंट टेस्ट इन साइंस, इंटरनेशनल जर्नल ऑफ़ रिसर्च एण्ड एनालिटिकल रिव्यूज, 5(3), 1037-1043.

लेखकों के लिए

परिप्रेक्ष्य राष्ट्रीय शैक्षिक योजना एवं प्रशासन संस्थान, नई दिल्ली से अप्रैल, अगस्त और दिसंबर में प्रकाशित की जाती है।

यह पत्रिका समाजवैज्ञानिकों और शैक्षिक योजना, प्रशासन और प्रबंध से जुड़े कार्मिकों तथा शोधकर्त्ताओं के शैक्षिक शोध और अनुभवों के आदान-प्रदान के लिए एक मंच प्रदान करती है।

इस पत्रिका में निम्नांकित स्तंभ हैं : 1. अनुसंधान लेख; 2. अनुसंधान टिप्पणी/संवाद; 3. अनुसंधान रिपोर्ट सार; 4. चिंतक और चिंतन; 5. साक्षात्कार; 6. समीक्षा लेख; 7. पुस्तक समीक्षाएं।

इस पत्रिका के लिए हिंदी/अंग्रेजी में लिखे अप्रकाशित मूल लेख आमंत्रित हैं। मूल हिंदी में लिखे नीतिगत और अनुभवाश्रित लेखों को प्राथमिकता दी जाएगी। लेखकों से अनुरोध है कि लेख की दो टंकित प्रतियां भेजें। पांडुलिपि फुलस्केप पेपर पर डबल स्पेस में एक ओर टंकित होनी चाहिए। लेख का सारसंक्षेप 150 शब्दों में अवश्य भेजें। लेख की साफ्ट कापी भी भेज सकते हैं। कृपया अलग पृष्ठ पर अपना संक्षिप्त परिचय अवश्य दें। पांडुलिपि में संदर्भ, टिप्पणी, संदर्भ ग्रंथ आदि का उल्लेख निम्नांकित रूप में दें :

* बिना टिप्पणी के सामान्य संदर्भ छोटे कोष्ठक में दें, जैसे- (नायक, 1972, पृ. 23-25)
* नायक, जे.पी. (1972) एजुकेशन कमीशन एण्ड आफ्टर, नई दिल्ली : एलायड
* मजूमदार, तपस (1987) ''द रोल ऑफ फायनेंस कमीशन'' जर्नल आफ एजुकेशनल प्लानिंग एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन, 1(2&4), जुलाई-अक्तूबर, पृ.1-11
* पंचमुखी, पी.आर. (1982) ''एजुकेशनल फायनेंसेज इन द फेडरल फ्रेमवर्क'' शिक्षा के लिए अतिरिक्त संसाधन जुटाने के उद्देश्य से गतिविधियां विषय पर नीपा, नई दिल्ली में आयोजित संगोष्ठी (मिमियोग्राफ)
* रेफ, हंस (1986), ''पर्सपेक्टिव प्लानिंग इन एजुकेशन : एन इंटरनेशनल व्यू'', मुनिस रज़ा (सं.), एजुकेशनल प्लानिंग : ए लांग टर्म पर्सपेक्टिव, नई दिल्ली, कांसेप्ट-नीपा में संकलित, पृ. 65-91
* टिप्पणी और संदर्भ सूची लेख के अंत में संख्याक्रम और हिंदी वर्णमाला क्रम में दें।

संपादकीय पूछताछ और अन्य जानकारी के लिए संपर्क करें :

अकादमिक संपादक, *परिप्रेक्ष्य,* राष्ट्रीय शैक्षिक योजना एवं प्रशासन संस्थान (नीपा)
17-बी, श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली-110016. ई-मेल: sudhanshu@niepa.ac.in

ISSN 0972-7515

आगामी अंक में

आलेख

विनय कुमार कंठ
जन सांस्कृतिक आन्दोलन
वैचारिक, सांस्कृतिक एवं रचनात्मक चुनौतियाँ

लाजवंती एवं सोहिल कुमार बंसल
स्नातक स्तर के विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि एवं शैक्षिक आकांक्षा स्तर में सहसंबंध

ऋतु बाला
शैक्षिक दस्तावेज़ों में परीक्षा का स्वरूप

शोध टिप्पणी / संवाद

किरण बरेठ एवं **सम्बित कुमार पाढी**
उच्चतर माध्यमिक स्तर के शिक्षकों के शिक्षक प्रभावशीलता और विद्यालय संगठनात्मक वातावरण

नरेश कुमार
शांति के लिए शिक्षा : अवधारणा, सिद्धांत, मूल्य एवं सुझाव

कौशलेंद्र प्रपन्न
शिक्षा को गढ़ती राजनीति

चिंतक और चिंतन

सुनीता सिंह
भारत रत्न महामना पंडित मालवीय जी का शिक्षा दर्शन व प्रासंगिकता